प्राक्कथन

लेखक— श्री अनन्तशयनम् अय्यंगर
अध्यक्ष लोक सभा

श्री स्वामी केशवदेव जी आचार्य भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों के उच्च कोटि के अनुभवी विद्वान् हैं। काशी विश्व विद्यालय से एम. ए. और आचार्य की परीक्षायें उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण करके भी आप धन और पद के प्रलोभन में न फंसे और सब कुछ त्याग कर श्री अरविन्द आश्रम पांडीचेरी में चले गये और वहां अनेक वर्षों तक कठोर साधना करके योग में एक असाधारण भूमिका को प्राप्त किया। आप लगभग १७ वर्षों से उत्तर भारत में वर्तमान युग के देवर्षि श्री अरविन्द के दिव्य ज्ञान के प्रकाश मे भारतीय जनता की मनोवृत्ति और आवश्यकता के अनुसार उच्चकोटि के नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक भावों का प्रचार कर रहे हैं। गीता-नवनीत, आत्मसमर्पण योग, कठोपनिषद्, सत्य का रहस्य आदि ग्रन्थ आपके इस सत्प्रयास के परिणाम हैं।

मानव जीवन को श्रेष्ठ और उन्नत बनाने के लिए यदि कोई एकमात्र गुण हो सकता है तो वह 'सत्य' ही है। सभी महापुरुषों के जीवन में इसका दिग्दर्शन किया जा सकता है। 'सत्य का रहस्य' इस पुस्तक में प्रतिभाशाली लेखक ने सत्य के विविध

प्राक्कथन

लेखक— श्री अनन्तशयनम् अय्यंगर
अध्यक्ष लोक सभा

श्री स्वामी केशवदेव जी आचार्य भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों के उच्च कोटि के अनुभवी विद्वान् हैं। काशी विश्व विद्यालय से एम. ए. और आचार्य की परीक्षायें उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण करके भी आप धन और पद के प्रलोभन में न फंसे और सब कुछ त्याग कर श्री अरविन्द आश्रम पांडीचेरी में चले गये और वहां अनेक वर्षों तक कठोर साधना करके योग में एक असाधारण भूमिका को प्राप्त किया। आप लगभग १७ वर्षों से उत्तर भारत में वर्तमान युग के देवर्षि श्री अरविन्द के दिव्य ज्ञान के प्रकाश में भारतीय जनता की मनोवृत्ति और आवश्यकता के अनुसार उच्चकोटि के नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक भावों का प्रचार कर रहे हैं। गीता-नवनीत, आत्मसमर्पण योग, कठोपनिषद्, सत्य का रहस्य आदि ग्रन्थ आपके इस सत्प्रयास के परिणाम हैं।

मानव जीवन को श्रेष्ठ और उन्नत बनाने के लिए यदि कोई एकमात्र गुण हो सकता है तो वह 'सत्य' ही है। सभी महापुरुषों के जीवन में इसका दिग्दर्शन किया जा सकता है। 'सत्य का रहस्य' इस पुस्तक में प्रतिभाशाली लेखक ने सत्य के विविध

रूपों का प्रतिपादन करते समय सुकरात, बुद्ध, अब्राहम लिंकन, महात्मा गांधी, श्री अरविन्द जैसे महापुरुषों के जीवन की विशिष्ट विशिष्ट घटनाओं का जो उल्लेख किया है उससे विषय-प्रतिपादन में एक विचित्र रोचकता, सरलता एवं स्पष्टता आ गई है जो पाठक के हृदय मे घर कर लेती है। इसमे हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिख, ईसाई, मुसलमान आदि प्रायः सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मों के संतों के वचन रूपी रत्नों को जिस सुन्दरता के साथ एक सूत्र में ग्रथित किया गया है उससे यह पुस्तक एक अद्भुत प्रभा से जगमगाती सी जान पड़ती है। इनके पठन से संकीर्ण साम्प्रदायिकता दूर होती है और हृदय मे समस्त धर्मों के प्रति प्रेम, सौहार्द और एक मानवता की भावना जागृत होती है। देश मे स्वतंत्रता के बाद जो सर्वसाधारण मे भ्रष्टाचार और विद्यार्थियों में चरित्र भ्रष्टता, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता जैसी निम्नकोटि की प्रवृत्तियां बढ़ती दिखाई दे रही हैं (अभ्युत्थानमधर्मस्य) और विचारशील मनुष्यों के लिये गंभीर चिन्ता का विषय बनी हुई हैं उनके निराकरण करने और जीवन को श्रेष्ठ एवं उन्नत बनाने में इस पुस्तक से पर्याप्त सहायता मिलेगी— ऐसी मेरी धारणा

नई दिल्ली
१३ सितम्बर १९५९

श्री अनन्तशयनम् अय्यंगर

भूमिका

लेखक—श्री लाल बहादुर शास्त्री

वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री

स्वामी केशवदेव जी की पुस्तक के अवलोकन करने का मुझे, खेद है, पूरा अवसर नही मिला। परन्तु जितना मैंने इसे देखा है उससे स्पष्ट है कि वे काफी गहराई में उतरे हैं। "सत्य का रहस्य" जो उनकी पुस्तक का नाम है उसे वास्तव में जान और पहचान सकना सरल नहीं। सत्य क्या है, इसकी परिभाषा अतीव रहस्यमयी है। "मैं लाल बहादुर हूँ" यह कहना भी सत्य नहीं है क्योंकि "मैं" जो अपने परिचय का सबसे सन्निकट और सरल संकेत हो सकता है, वह भी सत्य नहीं है। "आत्मा" न लाल बहादुर के रूप में सबोधित की जा सकती है न "मैं" के रूप में। फिर भी ऐसे गूढ तत्त्व को समझना और उसका आत्मानुभव करना ही जीवन का सुन्दरतम रहस्य है। स्वामी केशवदेव जी ने इसको अनेक रूपो में सरल बनाकर समझाने और बताने का प्रयास किया है तथा अनेक महापुरुषो के जीवन की विभिन्न घटनाओ का उल्लेख कर व्यावहारिक जीवन में कैसे सत्य का अवलम्बन किया जाय उसे सुन्दर और सरल रूप में व्यक्त किया है।

मैं स्वामी केशवदेव जी को इस रचना के लिए बधाई देता हूँ।

नई दिल्ली

२३ सितम्बर १९५६

लाल बहादुर

प्रस्तावना

श्री अनिलवरण राय
श्री अरविन्द आश्रम, पांडीचेरी

श्री अरविन्द कहते हैं— "मानव की मितव्ययता में मानसिक प्रकृति का आधार नैतिकता है और जो बौद्धिक शिक्षा नैतिक और भावावेगात्मक प्रकृति की पवित्रता-पूर्णता से रहित है वह मानव प्रगति में हानिकर है"। सभी विचारशील व्यक्ति इस तथ्य को स्वीकार करते हैं किन्तु वर्त्तमान परिस्थितियों में, स्कूल और कालिजों में उपयुक्त नैतिक शिक्षा का देना अभी तक संभव नहीं हो सका है। प्राचीनकाल में भारत में विद्यार्थियों को ऋषियों के आश्रमों में भेज कर शिक्षा दिलाई जाती थी। गुरु अपने उपदेश, उदाहरण और आध्यात्मिक प्रभाव से विद्यार्थियों के मन और चरित्र का निर्माण किया करते थे। इस प्रकार इस समस्या का समाधान प्राप्त किया जाता था। वर्त्तमान परिस्थितियों में उन्हीं सिद्धान्तों का पालन श्री अरविन्दाश्रम पांडीचेरी के अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र में किया जा रहा है। जो व्यक्ति वर्त्तमान युग की परिस्थितियों में नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा की समस्या का व्यावहारिक समाधान देखना चाहते हैं उन्हें श्री अरविन्दाश्रम में आकर देखना चाहिये।

नैतिकता का सार सत्य है, परन्तु सत्य क्या है और कैसे इसे जीवन में लाया जाय, इन प्रश्नों का उत्तर अधिकतर मनुष्य अभी तक प्राप्त नहीं कर सके हैं। "सत्य का रहस्य" इस पुस्तक मे आचार्य श्री केशवदेव जी ने श्री अरविन्द और माताजी की शिक्षा का अनुसरण करते हुए, इन प्रश्नों का सुन्दर, सरस, समुचित तथा सारगर्भित उत्तर दिया है ।

यह पुस्तक, निःसंदेह, नैतिकता के इस मूलभूत सिद्धान्त को समझने और जीवन में अपनाने में आबाल-वृद्ध सभी के लिए सहायक होगी ।

— अनिलवरण राय

समर्पण

मानव जीवन को श्रेष्ठ और उच्च बनाने वाले जितने भी सद्गुण शास्त्रों ने बतलाये हैं उन सबका मूल है सत्य। दूसरे गुण सत्यरूप बीज की शाखा प्रशाखाओं के समान हैं जोकि सत्य का पालन करते रहने पर स्वयं ही प्रस्फुटित हो जाते हैं। सत्य एक सूर्य के समान है जिसमे उद्भूत होकर और जिसे केन्द्र बनाकर दूसरे गुण ग्रहों के समान उसके चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं, उससे तेज पाकर प्रकाशित होते हैं और उसके न मिलने पर निस्तेज, मद्दे, निर्वीर्य हो जाते हैं। विश्व मे जितने भी महापुरुष हो गये हैं उनके जीवन में सत्य प्रमुख स्थान रखता रहा है।

आजकल विश्व मे भीषण अशान्ति है। इसका मुख्य कारण है असत्य। कुछ देश स्वार्थान्ध होकर दूसरों के न्याय-सगत अधिकारों को हड़प लेना चाहते हैं और दूसरे इसका विरोध करते हैं। देशों के नेता कहते कुछ हैं और करते उससे भिन्न हैं। एक दूसरे की बातों पर विश्वास नहीं करता। भौतिक विज्ञान ने जो मनुष्य को विश्वव्यापी शक्ति प्रदान की है उसका उपयोग मानव जीवन को सुखी बनाने की अपेक्षा सैनिक बल बढाने और मनुष्य के विनाश के लिए हो रहा है। अत विज्ञान की वृद्धि के साथ साथ विनाशकारी शक्ति भी बढ गई है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानव जाति अपने विनाश के कगार पर खडी है। यदि प्रत्येक देश के नेता सच्चे हृदय से दूसरों के न्याय-संगत अधिकारों को समझने और स्वीकार करने का प्रयत्न करें तो यह समस्या शीघ्र ही हल हो सकती है।

हमारे देश ने स्वतंत्रता प्राप्त करके निःसन्देह कृषि, उद्योग आदि मे उन्नति की है किन्तु नैतिकता मे भी उन्नति की है— यह कह सकना कठिन है। समाज मे उच्च स्थान रखने वाले भी बहुत से व्यक्तियों में भयंकर भ्रष्टाचार देखा जा रहा है। विद्यार्थियों की, जिन पर कि भावी भारत के निर्माण का भार है, दशा तो अत्यन्त हृदय-विदारक है। हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति मे विद्यार्थी अपने गुरु, माता, पिता और आयु मे बड़े व्यक्तियों को अभिवादन करने और उनकी आज्ञा पालन और सेवा मे आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि मानते थे ·

अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविन ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥

मनुस्मृति २ । १२१ ॥

आजकल के विद्यार्थी दंभ, अभिमान के वश उनका अपमान करने और अनुशासन भंग करने मे ही अपना बड़प्पन समझते हैं। परीक्षा भवनों मे जो अनियमिततायें विद्यार्थी करते हैं वे छिपी हुई नहीं हैं। अत विद्यार्थियो मे सत्य, सदाचार, शिष्टाचार, अनुशासन की भावना के जागृत करने की आज कितनी अधिक आवश्यकता है इसका अनुमान इससे ही किया जा सकता है।

सत्य का प्रचार सभी महापुरुष अपने जीवन के द्वारा करते रहे हैं। वर्तमान युग मे महात्मा गाधी ने वकालत और राजनीति जैसे छलकपटमय क्षेत्रों मे भी सत्य को अपनाकर एक आश्चर्यजनक कार्य किया है। वर्तमान युग के महायोगी श्री अरविन्द के अनुसार

सत्य के उच्चतम स्वरूप को वेदों में सत्यं, ऋतं, बृहत् कहा गया है। उसे ही उन्होंने अतिमन या विज्ञान भी कहा है। वेदों में सूर्य को इस सत्य का प्रतीक माना गया है। पृथ्वी पर से असत्य और उसके परिणामभूत स्वार्थपरायणता, लोभ, हिंसा आदि का निराकरण करने के लिए श्री अरविन्द ने अपनी यौगिक शक्ति से उस उच्चतम सत्य का, दूसरे शब्दों में, अतिमानस ज्योति और शक्ति का अवतरण किया है और वह मानव के दिव्य रूपान्तर के लिए किया कर रहा है, परन्तु मनुष्य के भीतर यह क्रिया तभी हो सकती है जबकि वह अपने व्यावहारिक जीवन को सच्चा बनाये। अतः वे लिखते हैं :

"हमारे प्रयास का लक्ष्य जो महान् और दुःसाध्य पदार्थ (अतिमानस रूपान्तर) है वह तभी प्राप्त हो सकता है जबकि मनुष्य के हृदय में दृढ़ और निरन्तर बनी रहने वाली अभीप्सा हो जो कि नीचे से पुकार करती है और ऊपर से भगवान् की, भागवती माता की प्रसाद रूपा शक्ति हो जो प्रत्युत्तर देती है।

"परन्तु भागवत प्रसाद-शक्ति केवल सत्य और प्रकाश की अवस्था में ही क्रिया कर सकती है। यदि असत्य जो कुछ चाहता है उसे वह स्वीकार करले तो वह अपने ही व्रत से च्युत हो जाय।"

अतः अन्तरदेशीय, देशीय और आध्यात्मिक सभी दृष्टिकोणों से सत्य को जीवन में अपनाने की आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यकता है। इसलिए, सत्य क्या है, इसे किस प्रकार व्यावहारिक जीवन में लाया जा सकता है, विश्व के महापुरुषों की

इसके विषय में कैसी मान्यता रही है और उन्होंने इसे किस प्रकार अपने जीवन में अपनाया है— इन विषयों का संक्षेप में प्रतिपादन करने के लिये यह पुस्तक लिखी गई है।

इस पुस्तक में जो अनेक महापुरुषों के जीवन की मार्मिक घटनाओं के उदाहरण दिये गये हैं उनके देने का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य आंख मींचकर शत-प्रतिशत उनका अनुकरण करे। मुख्य बात है हृदय की सचाई की। प्रत्येक मनुष्य को इनसे आवश्यक शिक्षा ग्रहण करके अपने अपने समय और परिस्थिति के अनुसार, विवेक पूर्वक, सचाई के साथ सत्य को अपने आचरण में लाने का प्रयास करना चाहिये। जितना अधिक सत्य हमारे मन, वचन और कर्म में, मन, वाणी और शरीर के प्रतिक्षण के व्यवहार में आ जायगा उतना ही अधिक हम अतिमानस शक्ति की दिव्य रूपान्तरकारिणी क्रिया के पात्र होंगे और देवत्व की ओर अपने आपको, अपने जीवन को प्रगति करता हुआ अनुभव करेंगे।

श्री अनन्तशयनम् अय्यंगर, अध्यक्ष लोक सभा और श्री लाल बहादुर शास्त्री, वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री ने देशीय और अन्तर-देशीय महत्वपूर्ण कार्यों में अत्यधिक संलग्न रहने पर भी यथावकाश इस पुस्तक का अवलोकन करने और प्राक्कथन एवं भूमिका लिखने का कष्ट उठाया है यह उनके सत्य-प्रेम और स्नेह का परिचायक है। लेखक इसके लिए दोनों महानुभावों का हृदय से कृतज्ञ है।

इस प्रकार श्रद्धा भक्ति के सूत्र से ग्रथित सत्पुरुषों के विचार, वचन, चरित्र रूप कुसुमों की यह माला अतिमानस सत्य के दिव्य-दूत के सिद्धि-दिवस के शुभ अवसर पर उनके पावन चरणों में अर्पण करते हुए लेखक को अपार हर्ष है।

—केशव

❀ संक्षिप्त चिह्न परिचय ❀

अ०	=	अध्यात्म रामायण
अथर्व	=	अथर्व वेद
उ०	=	उद्योग पर्व
ऋ०	=	ऋग्वेद
छा०	=	छान्दोग्योपनिषद्
तै०	=	तैत्तिरीयोपनिषद्
दा०	=	दादूदयाल
दे०	=	देवी भागवत
पु०	=	पुराण
प्र०	=	प्रश्नोपनिषद्
वा०	=	वाल्मीकीय रामायण
बृ०	=	बृहदारण्यकोपनिषद्
मनु०	=	मनुस्मृति
महा०	=	महाभारत
मा०	=	मार्कण्डेय पुराण
रा०	=	रामायण
वि०	=	विष्णु पुराण
शा० शि० प०	=	शारीरिक शिक्षण पत्रिका
सु० र० भा०	=	सुभाषित रत्न भाण्डागारम
L. D.	=	Life Divine

विषय-सूची

पहली प्रभा

दूसरी प्रभा

तीसरी प्रभा

चौथी प्रभा

पांचवी प्रभा

परिशिष्ट

श्रीअरविन्द

श्रीमानाजी

सत्य का रहस्य

पहली प्रभा

सत्य का दार्शनिक स्वरूप

सत्य शब्द अस् धातु से बना है जिसका अर्थ है होना (अस भुवि)। जो सदा रहे उसे सत् (अथवा स्वार्थ में य प्रत्यय लगाने से) सत्य कहा जाता है। वेद और उपनिषदों में ब्रह्म को सत् या सत्य[1] कहा गया है, कारण यही एकमात्र वह तत्त्व है जो सदा, तीनों कालों में रहता है। दूसरे समस्त पदार्थ इसकी सत्ता से अपना अस्तित्व धारण करते हैं, अपने अस्तित्व के लिये इस पर निर्भर करते हैं, किन्तु यह अपनी सत्ता के लिए किसी पर भी निर्भर नहीं करता। अतः दूसरे समस्त पदार्थ सापेक्ष सत्य हैं और एकमात्र यही निरपेक्ष सत्य, परम सत्य है।

सत्य शब्द में तीन अक्षर हैं स, त् और य। स का अर्थ है अमृत अथवा मृत्यु-रहित चेतन जीव, त् का अर्थ है मरणशील, परिवर्तनशील जड़ कहा जाने वाला तत्त्व, य का अर्थ है इन दोनों

(१) एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋग्वेद १।१६४।४६॥
सद् एव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥
सत् सत्यम्॥ छा० ६।२।१; ६।८।७॥
सत्यं ह्येव ब्रह्म। बृ० ५।४॥

का शासक। वह परब्रह्म ही इन तीनों का रूप धारण करता है इस लिये वह सत्य कहा जाता है[१]।

ब्रह्म का एक ऐसा रूप भी होता है जो सत् से भी ऊपर होता है, इस लिये उसे सत् भी कह सकना कठिन है। अतः इसे कहीं कहीं असत् कहा गया है और इसे सत् का कारण मानकर इससे सत् की उत्पत्ति बतलाई गई है[२]। कुछ दार्शनिकों ने इसे शून्य भी कहा है। परन्तु असत् या शून्य कहने का यह अर्थ नहीं है कि इसका अस्तित्व ही नहीं है, अपितु यह कि इसमें कोई भी ऐसा गुण या क्रिया नहीं है जिसकी मनुष्य का मन कल्पना कर सकता हो। जिस किसी भी भावात्मक गुण या क्रिया की मानव मन कल्पना कर सकता है उससे यह परे ही है[३] (न तत्र मनः गच्छति)। और गुण एवं क्रिया के न होने

(१) तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥छा०।८।३।४॥

(२) असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सद् अजायत
तै० उ० २।७॥
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् ॥ ऋ० १०।१२६।४ ॥

(३) We really mean by this nothing something beyond the last term to which we can reduce our purest conception and our most abstract or subtle experience of actual being as we know or conceive it while in this universe. This nothing then is merely a something beyond positive conception. It is a zero which is all or indefinable Infinite which appears to the mind a blank, because mind grasps only finite conceptions but is in fact the only true existence. (L. D. I. 42–43, 1939)

से इसे कोई नाम भी नहीं दिया जा सकता (न तत्र वागच्छति)। इस लिये वस्तुतः इसे न सत् कह सकते हैं न असत्[1]। इसका तो केवल 'नेति नेति', 'तत्[2]', 'परम्', 'केवलम्' आदि शब्दों से संकेत मात्र किया जा सकता है[2]।

यह ब्रह्म की कुछ ऐसी अवस्था है जैसे कोई मनुष्य गाढ़ निद्रा मे सोया हुआ हो और उसकी आत्मविषयिणी चेतना भी उसके भीतर लीन हो गई हो[3]। जब वह इस गाढ़ निद्रा से, समाधि जैसी निद्रा से जागता सा है तो सबसे पहले स्वभावतः उसमे 'अहम्' इस रूप मे आत्मस्वरूप की, आत्म-सत्ता की चेतना जागृत होती है। ब्रह्म के इस स्वरूप को सत् कहा जाता है। उस तत् से अभिव्यक्त हुए इस सत्-स्वरूप ब्रह्म में चूंकि चेतना है और वह आनन्दमयी है इसलिये उसके इस स्वरुप को सत्, चित्, आनन्द कहा जाता है। परन्तु वहां इन तीनो मे कोई भेद नहीं है– सत्ता चेतना है, चेतना आनन्द है इसलिये इन तीनों को एक शब्द मे सच्चिदानन्द कहा जाता है। यही स्वरूप वेदो का एकं सत् और उपनिषदों का एकमेवाद्वितीय सद्-ब्रह्म है। यह सच्चिदानन्द तत्त्व ही उस मूलभूत 'तत्' का सर्वप्रथम अभिव्यक्त रूप है।

यह ब्रह्म स्वयं ही अपनी आत्म-सत्ता का आत्म-रूप मे संवेदन (आत्म संवित्) करता है और अभी तक ज्ञाता एवं ज्ञेय का,

---

(१) न असत् आसीत् नो सत् आसीत् तदानीम्।
ऋ० १०।१२९।१

(२) तत् पर च यत्॥ गीता ११।३७॥

(३) शयानस्य योग निद्रा वितन्वतः॥ भागवत १।३।२॥
प्रसुप्तमिव सर्वत.। मनुस्मृतिः १।५॥

विषयी एवं विषय का लेश मात्र भी विवेक उदय नहीं हुआ है। परन्तु इसके अनन्तर वह अपने स्वरूप को विषय (ज्ञेय) बनाकर देखता है। तब वह अपने आपको एक और अपने भीतर (अपनी सत्ता के भीतर) अनन्त सत्यों को देखता है। ये अनन्त सत्य अनन्त विश्वों के और उनके अनन्त पदार्थों के सार तत्त्व (essence), अनन्त सत्यतायें या शक्यतायें हैं। तब ब्रह्म की सत्ता सत्य (सति भवम् सत्यम्)[1] एवं चेतना ज्ञान कही जाती है और, उसका आनन्द अनन्त कहा जाता है क्योंकि आनन्द अनन्तता में है, सान्तता, अल्पता, परिच्छिन्नता में नहीं है[2]। ब्रह्म के इस स्वरूप को उपनिषदों ने 'सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम्'[3] कहा है। यहां ये सत्य (शक्यतायें) अनन्त होते हुए भी एकीभूत हैं किन्तु इनमें अनन्त रूपों में अभिव्यक्त होने की सामर्थ्य है। अत ब्रह्म जो कि पहले अपने एकत्व के आनन्द में मग्न था अब अपने अनन्त रूपों की लीला का आनन्द लेने का संकल्प करता है। वह सकल्प करता है, मैं एक हूँ अनन्त हो जाऊं (अहम् एक बहु स्याम)। परन्तु जिस प्रकार रोमन के २६ या सस्कृत के ४७ अक्षरों से अनन्त प्रकार के शब्दों या वाक्यों की रचना हो सकती है और वे शब्द और वाक्य ऐसे भी हो सकते हैं कि जिनका कुछ भी अर्थ या समंजस अर्थ न हो, इसही प्रकार अनन्त ब्रह्म अपनी अनन्त क्रिया के द्वारा अपने

(१) सत् (existence) में रहने वाला, सत् का धर्म (essence) सत्य।

(२) यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति ॥छा० ७।२३।१॥

(३) तै० उ० २।१।१॥

अनन्त सत्यो से केवल अनन्त प्रकार के ऐसे ही लोकों या पदार्थों की रचना कर सकता है जिनमें कोई व्यवस्था या नियम न हो। किसी एक सर्मजस, व्यवस्थित विश्व की— जैसा कि यह हमारा विश्व है— रचना करने के लिये एक ऐसी सर्वज्ञानमयी शक्ति की आवश्यकता है कि जो इन अनन्त सत्या (शक्यताओं) मे से कुछ को चुन कर व्यवस्थित कर सके और फिर तदनुकूल उन्हें कार्यान्वित कर सके[१]। मिट्टी के सूक्ष्म कणों के भीतर गेहूँ, चना, गन्ना, आम, केला आदि अनन्त पदार्थों के प्रकट करने की सामर्थ्य है किन्तु किसी विशेष फल को उत्पन्न करने के लिये ऐसी शक्ति की आवश्यक्ता है जो मिट्टी से उन फलों के अनुकूल बीजो का निर्माण करदे और फिर उन्ह अनुकूल तत्त्वों से पोषण के द्वारा वृक्ष एव फलो का रूप प्रदान कर दे। इसलिये जब अनन्त सत्यताओं वाला ब्रह्म अपने आप को अनन्त रूपो वाले एक व्यवस्थित विश्व के रूप मे अभिव्यक्त करने का सकल्प करता है तो वह अपने आप को एक चुनाव करने वाली और चुनाव के अनुसार क्रिया करने वाली शक्ति के रूप म प्रकट करता है। इस शक्ति को वैदिक भाषा मे

---

(१) Infinite consciousness in its infinite action can produce only infinite results, to settle upon a fixed Truth or order of truths and build a world in conformity with that which is fixed, demands a selective faculty of a knowledge commissioned to shape finite appearance out of the infinite reality

(L D I 174, 1939)

माया[1] या 'ऋत चित्'[2] या 'सत्यम् ऋतम् बृहत्'[3] कहा गया है। माया का अर्थ है मापने वाली, चुनने वाली, नाम एवं रूप में परिणत करने वाली शक्ति (माति, मिमीते)। यहाँ सत्य का अर्थ है सत्य का ज्ञान या सत्य ज्ञान[4]। ऋत शब्द ऋ धातु से बना है जिसका अर्थ है गति या क्रिया और गति अर्थ वाले धातुओं में ज्ञान का भाव भी रहता है। अत ऋतम् का अर्थ है सत्य ज्ञान के अनुकूल क्रिया, सत्य-क्रिया। इस ही धातु से ऋषि (सत्य का दर्शन करने वाला) और आर्य (सत्य के अनुसार कर्म करने वाला) शब्द भी बने हैं जिन्हें कि वैदिक साहित्य में अत्यन्त आदरणीय स्थान दिया गया है। बृहत् शब्द बृह् धातु से बना है जिसका अर्थ है वृद्धि, व्यापकता। अत 'बृहत्' शब्द का अर्थ है विशाल, व्यापक, अनन्त। इस ही धातु से ब्रह्म और ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) शब्द बने हैं। ब्रह्म के इस रूप को

(१) मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षस पितरो गर्भमादधु
ऋ० ४।८३।३॥
इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते ॥ बृहदारण्यक २।५।१६॥

(२) अग्ने ऋतस्य बोधि, ऋतचित् स्वाधी ॥ ऋ० ४।३।४॥
अग्ने कदा ऋतचिद् यातयासे ॥ऋ० ५।३।६॥

(३) अथर्व १२।१।१॥

(४) A truth of conscious being supports these forms and expresses in them, and the knowledge corresponding to the truth thus expressed reigns as a supramental Truth consciousness organising real ideas in a perfect harmony before they are cast into the mental-vital-material mould. (L D I. 177, 1939)

ईशोपनिषद् में सत्य, सूर्य, पूषा, एक ऋषि कहा गया है और इसके कल्याणतम रूप को देखने की प्रार्थना की गई है। इसे श्री अरविंद ने विज्ञान या अतिमन (Supermind) या दिव्य मन (Divine Gnosis) कहा है। ऋत शब्द में सर्वशक्तिमत्ता का और बृहत् शब्द में सर्वव्यापकता का भाव है। इस रूप वाले ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी ईश्वर कहा जाता है[1]। यही गीता के शब्दों में वह ईश्वर है जो कि समस्त भूतों के भीतर स्थित होकर उन्हें अपनी माया के यन्त्र पर चढ़ाकर घुमाया करता है (यन्त्राऽऽरूढ़ानि मायया)।

ब्रह्म का यह दिव्यमन या अतिमन अपनी सत्यद्रष्टी दृष्टि में एक विशेष प्रकार के विश्व की कल्पना करता है, उसकी इस कल्पना को उसका दर्शन, ईक्षण, संकल्प, ज्ञान या विज्ञान भी कहा जाता है। यह कल्पना या संकल्प या ज्ञान हमारे मानसिक संकल्प, कल्पना या विचार या ज्ञान से भिन्न प्रकार का होता है। हमारे मन में जब किसी पदार्थ का विचार आता है तो यह आवश्यक नहीं है कि उसमें उसके प्राप्त या निर्माण करने की इच्छा भी हो अथवा यदि इच्छा हो तो यह आवश्यक नहीं है कि हम उसके लिये प्रयत्न करें। अथवा यदि प्रयत्न करें तो यह आवश्यक नहीं है कि उसके लिये आवश्यक साधन-द्रव्य हमको मिल ही जायें। उदाहरण-स्वरूप रहन-सहन की कठिनाइयों का अनुभव करके एक व्यक्ति के मन में एक विशेष प्रकार के मकान का, जिसमें रहने

(१) एषः सर्वेश्वरः, एषः सर्वज्ञ, एषोऽन्तर्यामी, एषः योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। माण्डूक्योपनिषद् ॥६॥

पर उसकी आवश्यकतायें पूरी हो सके, विचार आता है। यह सम्भव है कि वह सोचले कि अब बुढ़ापा आ गया है, थोड़े दिन का जीवन है, जैसे तैसे पुराने मकान में ही काम चला लेना चाहिये, इतने लम्बे चौड़े मकान के बनाने का कष्ट करना व्यर्थ है। अतः मकान का संकल्प आने पर भी वह उसके बनाने की इच्छा नहीं करता। यह भी संभव है कि मन में मकान बनाने की इच्छा हो किन्तु रोग में या दूसरे कार्यों में उलझे रहने के कारण वह उस के लिये प्रयत्न न कर सके। यह भी संभव है कि प्रयत्न करते रहने पर भी मकान के लिये आवश्यक ईंट, सीमेंट, लकड़ी आदि सामग्री न मिलें और वह मकान न बन सके या अधूरा रह जाय। शाहजहाँ ने यमुना के दूसरे किनारे पर दूसरा ताजमहल बनाने का संकल्प किया था किन्तु वह अधूरा ही रह गया। एक वैज्ञानिक के मन में ऐसे विमान बनाने का विचार आ सकता है कि जिससे मनुष्य सूर्य, चन्द्रमा, ध्रुव आदि लोकों की यात्रा कर सके। यह संभव है कि वह इस कार्य को असंभव समझकर उसके लिये कुछ भी करने की इच्छा न करे, अथवा इच्छा होते हुए भी वह सोच ले कि यह कार्य बहुत कष्ट-साध्य है, दूसरी दिशा में प्रयत्न करने से अधिक लाभ होगा, अतः वह उसके लिये प्रयत्न न करे। अथवा यह भी संभव है कि प्रयत्न करते हुए भी आवश्यक बाहरी साधनों के अभाव में उसका यह कार्य पूरा न हो सके। यह संभव है कि एक मनुष्य किसी पदार्थ का ज्ञान मात्र प्रकट करे, दूसरे मनुष्य उसे कार्यान्वित करने की इच्छा करें और सफल न हों और सफलता अन्य मनुष्यों के द्वारा हो या न भी हो। इस प्रकार मानव मन के संकल्प (ज्ञान), इच्छा, प्रयत्न और उपादान द्रव्य एक

दूसरे से पृथक् पृथक् होते हैं। अनेक बार तो मनुष्य का ज्ञान कुछ होता है, इच्छा दूसरी करता है, कर्म इच्छा के विरुद्ध करता है, और फल भी इच्छा और कर्म के विरुद्ध होते हैं। मनुष्य का एक विचार स्वयं उसके अपने विचारो के विरुद्ध, एक इच्छा स्वय उस की अपनी दूसरी इच्छाओं के विरुद्ध, एक कर्म दूसरे कर्मों के विरुद्ध हो सकते हैं। उसके विचार, इच्छा और प्रयत्न दूसरे मनुष्यों के विचार, इच्छा और प्रयत्नों के विरोधी हो सकते हैं। इस लिये परिणामों मे भी वैषम्य हो जाता है। परन्तु अतिमन या दिव्य मन मे यह भेद नहीं है। यहा एकता एव समजसता रहती है। अत जैसा सकल्प या ज्ञान होता है उसके अनुसार इच्छा रहती है, इच्छा के अनुसार शक्ति क्रिया करती है और क्रिया के अनुसार उपादान द्रव्य विद्यमान रहता है। जिस प्रकार अग्नि का प्रकाश, ज्वलन-शक्ति और ज्वलन रूप क्रिया अग्नि के द्रव्य से पृथक् नहीं होते, इसही प्रकार सच्चिदानन्द के दिव्य मन के इस सकल्प मे ज्ञान, इच्छा और क्रिया उसके द्रव्य से भिन्न नहीं होते, कारण यह ज्ञान, इच्छा और क्रिया जिस प्रकार सच्चिदानन्द के चेतना तत्त्व के कार्य हैं इस ही प्रकार उसके सत्ता तत्त्व के भी कार्य हैं, और यह सत्ता तत्त्व ही द्रव्य है। वहा सत्ता और चेतना मे कोई विच्छेद नहीं है, अत ज्ञान (विज्ञान), इच्छा, क्रिया और उपादान द्रव्य मे भी विच्छेद नहीं है[1]। अतिमन मे सत्ता एव चेतना के साथ आनन्द भी

(1) In supermind Knowledge in the Idea is not divorced from will in the Idea, but one with it, just as it is not different from being or substance, but is one with the being luminous power of the substance (L D I 197, 1939)

रहता है और सफलता आनन्द की अभिव्यक्ति है, अत ज्ञान, इच्छा एव क्रिया के साथ सफलता भी निश्चित ही रहती है[१]। और चूंकि यहा पूर्ण सामनस्य है अत एक सकल्प (ज्ञान) दूसरे सकल्प से, एक इच्छा दूसरी इच्छा से, एक क्रिया दूसरी क्रिया से सघर्ष नहीं करते। वहा एक ही बृहत् चेतना है जो सब संकल्पों को अपने अग के रूप म धारण करती है और उनमें उपयुक्त सबध करती है, एक इच्छा है जो समस्त इच्छाओं को अपने अग के रूप मे धारण करती है और उन्हे सुसबद्ध करती है। वहा जो भी क्रियायें होती हैं वे सब समनसता पूर्वक एक पूर्व निर्धारित लक्ष्य की ओर जाने वाली होती हैं, अत उनम परस्पर म कोई सघर्ष नहीं होता, अत उनके परिणामा में भी कोई विरोध नहीं होता। इस लिए जिस प्रकार सच्चिदानन्द सत्य पदार्थ है, जैसे विज्ञान या अतिमन सत्य, ऋत यथार्थ है, इस ही प्रकार अतिमन का यह सकल्प या कल्पना भी सत्य, ऋत, यथार्थ (Real Idea) है[२]। अतिमन का यह ज्ञान या विज्ञान रूप सत्य-सकल्प ही, जिसमें इच्छा, प्रयत्न और उपादान द्रव्य पूर्ण सामजस्य के साथ एकीभूत

(१) In supermind Truth is the substance and Truth rises in the Idea and Truth comes out in the form and there is one truth of knowledge and will, one truth of self fulfilment and therefore of delight, for all fulfilment is satisfaction of delight (L D I 179, 1939)

(२) There the Idea is only the light of the reality illuminating itself, it is not mental thought or imagination but effective self awareness It is real Idea (L D I 197, 1939)

हैं, इस सम्पूर्ण विश्व का बीज है[1]। और ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, उपादान द्रव्य तथा परिणाम में जो यह अनुरूपता है यही ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्वशक्ति-मत्ता और सर्वव्यापकता हे।

और चूंकि ईश्वर का ज्ञान सत्य है, ज्ञान के अनुरूप इच्छा वाला होने से वह सत्य इच्छा वाला (सत्यकाम) है, इच्छा के अनुकूल क्रिया वाला होने से वह सत्य कर्मा है, क्रिया के अनुकूल उपादान द्रव्य वाला होने से सत्योपादान है इसलिए वह सत्य है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सत्य शब्द में, स्वार्थ में 'य' प्रत्यय करने पर (सत्+य) सदा रहने का भाव भी है और यह ईश्वर, सच्चिदानन्द या 'सत्' ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जो तीनों कालों में सदा रहता है, इस कारण भी ईश्वर सच्चिदानन्द या सत् को सत्य कहा जाता है।

इस सत्य-संकल्प रूप बीज में विश्व के समस्त पदार्थों के बीज मूलभूत सत्य (essential truth) और सक्रिय समंजस सत्य या ऋत (ordered truth) के रूप में विद्यमान रहते हैं। यह अनन्त ज्ञान एवं क्रिया वाला दिव्य सत्य संकल्प अपने भीतर की अनन्त समंजस सत्यताओं (शक्यताओं) से विश्व के अनन्त पदार्थों की सृष्टि करता है और उनके भीतर व्याप्त होकर क्रिया करता रहता है। यह संकल्प जो कि प्रत्येक पदार्थ का सारभूत सत्य (essential truth) है, उसका श्रेष्ठतम, उच्चतम, दिव्य

---

(१) ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदान्।
विजानीहि विज्ञानविजृम्भितानि॥

विष्णु पुराण २।१२।३६॥

स्वरूप होता है जो लक्ष्य रूप में उसके भीतर विद्यमान रहता है और यही ऋत रूप में उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके भीतर क्रिया करता रहता है चाहे वह हमारी दृष्टि में अचेतन हो या अवचेतन, अर्धचेतन हो या सचेतन। यही सत्य या ऋत अचेतन प्रतीत होने वाले परमाणु के भीतर क्रिया करके उसमें से अवचेतन प्राण तत्त्व वाले वनस्पति को विकसित करता है, वनस्पति में क्रिया करके उसमें से अर्धचेतन मन वाले पशु को विकसित करता है, पशु में क्रिया करके उसमें से सचेतन मन वाले मनुष्य को विकसित करता है और सचेतन मन वाले मनुष्य में क्रिया करते हुए अतिचेतन मन वाले अतिमानस अतिमानव, देव मानव को विकसित करने का प्रयत्न कर रहा है[1]। अत जो क्रिया (कर्म) परमाणु से वनस्पति के विकास में सहायक हो वह सत्य ऋत और जो बाधक हो वह असत्य अनृत, जो पशुत्व से मनुष्यत्व के विकास में सहायक हो वह सत्य ऋत और जो बाधक हो वह असत्य अनृत, जो मनुष्य से देवत्व के विकास में सहायक हो वह सत्य ऋत और जो बाधक हो वह असत्य अनृत होती है। देवत्व के विकास के लिये आवश्यक है

---

(१) Each thing in nature, therefore, whether animate or inanimate, mentally self conscious or not self conscious is governed in its being and its operations by an indwelling vision and power. Each thing seems to do the works of intelligence, even without possessing intelligence, because it obeys, whether subconsciously as in man, the real idea of the divine supermind behind it. (L D I 205–206, 1939)

कि मनुष्य की प्रकृति में तमोगुण और रजोगुण की कमी हो और सत्त्वगुण की वृद्धि या प्रधानता हो। अत जिस कर्म में तामसिकता कम हो और रजोगुण की वृद्धि हो वह सत्य ऋत और इसके विपरीत असत्य अनृत होता है, जिसमें तमोगुण और रजोगुण का बल क्षीण हो और सत्त्व गुण की वृद्धि हो वह सत्य ऋत और इसके विपरीत असत्य अनृत होता है।

जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप है (अयमात्मा ब्रह्म) किन्तु अज्ञान रूप आवरण से, अज्ञानान्धकार से उसका यथार्थ स्वरूप उससे छिपा रहता है। सत्य ज्ञान स्वरूप, प्रकाश स्वरूप है। अत जिन कर्मों से मनुष्य का अज्ञानावरण, अज्ञानान्धकार दूर हो वे कर्म सत्य ऋत होते हैं और जिन कर्मों से अज्ञान बढ़ता है या उसकी निवृत्ति में बाधा पहुचती है वे असत्य अनृत होते हैं। श्रेष्ठ शास्त्रों के अध्ययन, अध्यापन, स्वाध्याय, मनन, चिन्तन और योग, यज्ञ, उपासना, भक्ति आदि कर्मों से अज्ञान दूर होता है और ज्ञान का प्रकाश होता है अत ये कर्म सत्य ऋत कहे जाते हैं। और इनके विपरीत आलस्य, भोग, विलासिता, मोह, अकर्मण्यता आदि से अज्ञानावरण दृढ होता है अत ये असत्य अनृत होते हैं।

जीवात्मा ब्रह्म का स्वरूप या अश (ममैवाश) है। और सभी जीव उसके स्वरूप या अश हैं, अत प्रत्येक जीव की ब्रह्म से एकता रहती है और ब्रह्म के साथ एकता के द्वारा परस्पर में भी एकता रहती है। परन्तु अज्ञानजन्य अहकार के वशीभूत हुआ जीव अपने आपको दूसरों से प्रथक् समझता है और अपने व्यक्तिगत देह, मन, बुद्धि में तथा इन्हें अनुकूल प्रतीत होने वाले पदार्थों में आसक्त होकर दूसरों के साथ ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, चोरी, असत्य भाषण,

हिंसा आदि का व्यवहार करता है और इसलिये दुःख भोगता है। दूसरों के साथ प्रेम करने, दूसरों के हितकारी कर्म करने, दूसरों के हित में अपने धन, बल, ज्ञान का उपयोग करने, उन पर दया करने, किसी से अपराध हो जाने पर उसे क्षमा करने आदि कर्मों से मनुष्य के अहंकार का पर्दा क्षीण होता है और वह दूसरों से आन्तरिक एकता का अनुभव करता है— भले ही उसे सच्ची आध्यात्मिक एकता का अभी स्पष्ट अनुभव न हुआ हो—इसलिये ये कर्म सत्य ऋत कहलाते हैं। और दूसरी ओर अपने भोग-विलास के लिये दूसरों से धन ग्रहण करने (लोभ), दूसरों पर क्रोध करने, दूसरों की समृद्धि को देखकर उनसे ईर्ष्या द्वेष करने, दूसरों की चोरी, हानि, हिंसा करने आदि कर्मों में मनुष्य दूसरों से अपने आपको पृथक् जानता है और अपने अहंकार में बद्ध होता है[1]। इसलिये ये कर्म असत्य अनृत कहे जाते हैं। विषय भोग करने में मनुष्य शरीर, इन्द्रिय और मन की दासता में, जड़ प्रकृति के बंधन में बंधता है अतः ये कर्म असत्य अनृत हैं। इन्द्रिय-संयम, ब्रह्मचर्य पालन, तप आदि से मनुष्य इनके बंधन से मुक्त होता है, प्रकृति का प्रभु होता है और अपने आत्म-स्वरूप के दर्शन की ओर प्रगति करता है इसलिये ये सत्य ऋत कहे जाते हैं। ब्रह्म-ज्ञान, आत्म-ज्ञान, यथार्थ-ज्ञान, उच्चकोटि के ज्ञान के लिये प्रयत्न, योग, यज्ञ, तप, स्वाध्याय, मनन, चिंतन, सत्य भाषण, इन्द्रिय संयम, ब्रह्मचर्य पालन, दान, त्याग, परोपकार आदि कर्म करना सत्य ऋत के मार्ग में चलना है और अहंकार, दंभ, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ,

(१) यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति ।।
तै० २।७।।

चोरी, हिंसा, अन्याय, अत्याचार, भोग विलास, आलस्य, मोह आदि करना असत्य अनृत के पथ में चलना है। सत्य के मार्ग में चलने वालों को सज्जन (सन्-जन), संत, साधु, श्रेष्ठ, महात्मा, ऋषि, मुनि, ज्ञानी, विपश्चित्, कवि, पण्डित, आर्य, देव कहा जाता है। असत्य-अनृत के पथ मे चलने वालों को दुर्जन, असाधु, दुष्ट, दुरात्मा, अज्ञ, अविपश्चित्, अविवेकी, मूढ, अनार्य, असुर, दस्यु कहा जाता है। सत्य-ऋत के मार्ग मे चलने से स्वर्ग, मोक्ष, अमृतत्व, देवलोक, परमानन्द, परमात्मा, देवत्व की प्राप्ति होती है और असत्य अनृत के पथ में चलने से रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, जन्म-मरण के बन्धन, दुःख, क्लेश, अधोलोक की प्राप्ति होती है।

परम सत्य यद्यपि सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर एक ही होता है, किन्तु उसकी प्राप्ति के साधन रूप मे व्यक्तिगत मनुष्य, मानव-समाज एवं मानव जाति के विकास की भूमिका के अनुसार प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक समाज मे और प्रत्येक युग में उसके भिन्न-भिन्न रूप हो जाते हैं। जो मनुष्य दिन मे बीस बार सिगरेट पीता है उसके लिए दस बार पीना कुछ काल के लिये अपेक्षाकृत सत्याचरण हो सकता है किन्तु जब वह परित्याग कर दे या जो बिल्कुल न पीता हो उसके लिये एक बार भी पीना असत्याचरण या अधःपतन है। ाधारण स्त्री पुरुषों के लिये पति-पत्नी का सम्बन्ध रखना सत्या-रण है, किन्तु बालक बालिकाओं के लिये, भाई बहिनों के लिये थवा जिनमें आध्यात्मिक पिपासा जागृत हो गई है और जिन्होंने स जीवन का परित्याग करके उच्च कोटि के योगमय, संन्यासमय विन को स्वीकार किया है उनके लिये इस प्रकार का सम्बन्ध खना मिथ्याचार है। मानव समाज के लिये अब से सहस्रों वर्ष

पहले जो सत्य था उसमें से बहुत कुछ अब असत्य हो गया है और आज जो सत्य है उसमें से बहुत कुछ आगे आने वाले युगों में असत्य हो जायगा। कुछ सहस्र वर्ष पहले जबकि मानव समाज अव्यवस्थित, असंगठित था तो किसी एक व्यक्ति का राजा बन कर जन-साधारण पर शासन करना सत्याचार था, किन्तु आज के गणतंत्र के युग में वह असत्याचार हो गया है और भविष्य में ऐसा युग आ सकता है जबकि प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतरी अनुशासन में बद्ध होकर स्वभावत सत्य एवं न्याय के मार्ग पर चलने लगे और दूसरों के हितकारी कर्म करे। तब हर प्रकार का बाहरी शासन असत्य हो जायगा। आज के युग में युद्ध करना और युद्ध में हिंसा करना सत्य, न्याय माना जाता है किन्तु भविष्य में ऐसा युग आ सकता है जबकि प्रत्येक व्यक्ति स्वाभाविक रूप से न्याय के मार्ग पर चलने लगे। तब हिंसा की कोई आवश्यकता न रहेगी और आज के युग के युद्ध करने और कराने वाले मनुष्यों को पशु या असुर की श्रेणी में गिना जायगा।

चूंकि मानव जीवन का पूर्णतम उच्चतम लक्ष्य है मोक्ष, परमेश्वर, अमृतत्व, देवत्व को प्राप्त करना, इसलिए मनुष्य के लिए पूर्णतम सत्य वही है जिसमें उसके शरीर, प्राण और मन की समस्त क्रियाएँ एकमात्र इस परम लक्ष्य की प्राप्ति में लगी हों। इससे भिन्न जो कुछ भी है वह असत्य या अल्पसत्य है।

इस प्रकार देखने से ज्ञात होता है कि सत्य के छै रूप या भूमिकायें हैं। प्रथम स्वयं सच्चिदानन्द तत्त्व है जो कि भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों में विद्यमान रहता है और जिसका एक रूप है ब्रह्म और दूसरा है ईश्वर। यही परम सत्य है। दूसरा

सच्चिदानन्द का अनन्त सत्यताओं वाला यह स्वरूप है जिसे वह स्वय अपने भीतर देखता है और जिसमें अनन्त विश्वों के अनन्त पदार्थों के सार अव्यवस्थित रूप में विद्यमान रहते हैं। सच्चिदानन्द के इस स्वरूप को 'सत्य ज्ञानं अनन्तम्' कहा गया है। तीसरा इस ब्रह्म से प्रकट होने वाला यह स्वरूप है जो एक विश्व का दर्शन या सकल्प करके इन अनन्त सत्यों में से कुछ को चुनकर उन्हें व्यवस्थित करता है और भावी विश्व का बीज बनाता है। इस स्वरूप को 'ऋत चित्' या 'सत्यम् ऋतम् बृहत्' या दिव्य मन, अतिमन कहा गया है। सत्य का चौथा रूप है इस दिव्य मन या अतिमन के द्वारा देखा या कल्पित हुआ विश्व के अनन्त पदार्थों का बीज जिसे विज्ञानमय सत्यसंकल्प (Real Idea) कहा जाता है। ये तीन सत्य सच्चिदानन्द स्वरूप परमसत्य को अपने आपको विश्व के रूप में प्रकट करने में द्वार होते हैं और जीव को परमसत्य में आरोहण करने और उसे अभिव्यक्त करने में सहायक होते हैं। पाचवा रूप वह है जबकि यह अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति वाला सत्य-सकल्प सृष्ट हुए विश्व के समस्त पदार्थों के भीतर उनके विकास के लिये क्रिया करता है। सत्य के इस रूप को अन्तर्यामी सत्य कह सकते हैं। छठा है व्यावहारिक सत्य। इस श्रेणी में आते हैं सत्य भाषण, सत्य सकल्प, सत्य कर्म (मन, वचन और कर्म की एकता), अभीप्सा, आत्म-निरीक्षण, सत्यान्वेषण, त्याग, सहिष्णुता, ईश्वर में विश्वास, उससे बल की प्रार्थना और उसकी इच्छा के प्रति आत्म-समर्पण आदि। यह व्यावहारिक सत्य परमसत्य की प्राप्ति का साधन या आधार है।

दूसरी प्रभा

सत्य का व्यावहारिक रूप

[१]

सत्य का लक्षण

"वाङ्मनम्कर्मणां याथार्थ्यं सत्यम्"

सत्य का लक्षण है वाणी, मन और कर्म की यथार्थता या एकता।

'अर्थ' शब्द का अर्थ होता है पदार्थ या वस्तु। यहां अर्थ शब्द से अभिप्रेत है ज्ञान, वह ज्ञान जो इन्द्रियों या मन के द्वारा मनुष्य को प्राप्त हुआ हो। यथा शब्द का अर्थ है जैसा हो वैसा ही। अतः 'यथार्थ' शब्द का अर्थ हुआ जैसा मनुष्य को इन्द्रिय या मन के द्वारा ज्ञान हुआ हो ठीक ठीक वैसा ही।

सत्य का सर्वप्रथम व्यावहारिक रूप सत्य-भाषण या वाणी का सत्य है— जैसा इन्द्रिय या मन के द्वारा मनुष्य को ज्ञान हुआ हो वैसा ही वाणी से कहना। परन्तु सत्य-भाषण सत्य का केवल एक अंश है। मनुष्य जान-बूझकर चालाकी से ऐसी भाषा बोल सकता है कि जो बाहरी रूप में सत्य जान पड़ती हो किन्तु सुनने वाले के मन में वक्ता के ज्ञान से भिन्न भाव उत्पन्न करती हो। उदाहरणस्वरूप एक व्यक्ति किसी स्थान पर प्रातःकाल कोई दुष्कर्म करके दूसरे स्थान पर चला जाता है। जब उससे यह पूछा जाता

है कि क्या तुमने अमुक स्थान पर उस दिन यह कार्य किया था तो यह उत्तर देता है— श्रीमान् जी ! उस दिन तो मैं दूसरे स्थान पर था। वह उस दिन की उस दूसरे स्थान पर अपनी उपस्थिति का प्रमाण भी उपस्थित कर देता है। नि सन्देह यह सत्य बोल रहा है परन्तु इससे उसका अभिप्राय यह होता है कि सुनने वाला यह समझ जाय कि वह उस दिन उस पूर्व स्थान पर नहीं था और उसने वह कार्य नहीं किया है। अत उसका कथन आपातत अथवा अशत ही सत्य है, वाणी का सत्य होने पर भी मानसिक सत्य नहीं है— अत असत्य है।

इसही प्रकार मान लीजिये देहली रहने वाले किसी व्यक्ति का पुत्र, जिसका नाम लालसिंह है, कलकत्ते में सेना मे नौकर है। वहाँ लालसिंह नाम किसी घोडे का भी है। अकस्मात् युद्ध मे वह घोडा मारा जाता है। एक व्यक्ति जिसने कलकत्ते में उस घोडे को मरते देखा या सुना है वहाँ से लौट कर देहली आता है और लालसिंह मनुष्य के पिता से कह देता है कि लालसिंह युद्ध मे मारा गया है। वह पिता उसके कथन पर विश्वास करके बहुत दु खी होता है। दीर्घकाल मे जब पुत्र स्वयं देहली आकर पिता से मिलता है तो उसको आश्चर्य होता है। तब पिता उस मनुष्य से पूछता है कि तुमने तो कहा था कि लालसिंह मारा गया, तो वह उत्तर देता है कि लालसिंह नाम का घोडा मारा ही गया है, मैंने सत्य ही कहा है। यहाँ उस व्यक्ति का 'लालसिंह घोडा मारा गया' न कहकर केवल 'लालसिंह मारा गया' कहना आंशिक सत्य है। इससे उसका अभिप्राय यह है कि लालसिंह मनुष्य के पिता को यह ज्ञान हो जाए कि उसका पुत्र लालसिंह

नामक मनुष्य मारा गया है। अतः जैसा उसका ज्ञान है उससे भिन्न ज्ञान के संचार करने का संकल्प होने से उसका कथन मिथ्या है। इसलिए वचन बोलते समय जैसा मनुष्य जानता है ठीक ठीक वही भाव दूसरों मे संचार करने का संकल्प भी होना चाहिये। अतः योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने सत्य का लक्षण इस प्रकार किया है :

"सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथादृष्टं यथाऽनुमितं तथा वाङ्मनश्चेति, परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता, भ्रान्ता वा, प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेद्" (योगभाष्य २।३७)

"वाणी के साथ साथ मन का भी सच्चा होना सत्य होता है, अर्थात् जैसा देखा या अनुमान किया हो वैसा ही भाव देने का मानसिक संकल्प रखते हुए वाणी बोलना सत्य कहलाता है। दूसरों को अपना भाव देते समय जो वाणी कही जाय उसमें कोई छल न हो, दूसरों को जान-बूझ कर भ्रम में डालने या भिन्न ज्ञान देने का प्रयत्न न हो"।

परन्तु यदि मनुष्य जैसा उसका ज्ञान है ठीक ठीक उसही भाव के संचार करने का संकल्प रखते हुए वाणी तो बोलता है किन्तु तदनुसार कर्म नहीं करता तो उसका वह सत्य-भाषण भी आंशिक ही सत्य है। उदाहरण-स्वरूप जो व्यक्ति यह जानता है कि सिगरेट, तम्बाकू, गांजा, अफीम, शराब, मांस आदि का सेवन करना बुरा है और वह दूसरो पर इनके दोषों का वर्णन करता है तो निःसन्देह वह सत्य-भाषण करता है। परन्तु यदि वह स्वयं इनमें से किसी का सेवन या खेती या व्यापार करता है तो उसका

यह कर्म या आचारण असत्य या मिथ्या है। जो व्यक्ति हिंसा को बुरा समझता है उसके लिए मास खाना हिंसा में सहायता देता है, अत मिथ्याचार है।

अत मन मे जैसा ज्ञान हो ठीक-ठीक उसे व्यक्त करने का सकल्प रखते हुए वाणी बोलना जैसे मन और वचन का सत्य है इसही प्रकार ठीक-ठीक वैसे कर्म करना कर्म या आचरण का सत्य है। इस प्रकार सत्य का सम्बन्ध मन, वचन और कर्म तीनो मे है। पूर्ण सत्य वह है जिसमें सत्य वचन, सत्य सकल्प (मानसिक सत्य) और सत्य कर्म तीनों विद्यमान हो। इनमे से किसी भी एक का अभाव होने पर सत्य आशिक या अपूर्ण ही होगा। अत मन, वचन और कर्म की यह यथार्थता या सत्यता या एकता ही सत्य का पूरा लक्षण है। इसे सच्चाई (sincerity), निष्कपटता (honesty) या सत्यनिष्ठा भी कहा जाता है। जिन मनुष्यों में यह एकता होती है वे मनुष्य महात्मा होते हैं

"मनस्येक वचस्येक कमण्येक महात्मनाम्"

[२]

सत्य एक तप है : समस्त सद्गुणो का मूल है

ऋतस्य धीति वृजनानि हन्ति (ऋ० ३।६।१०)

सत्य का आचरण पापो को नष्ट कर देता है।

साच बरोबर तप नहीं झूठ बरोबर पाप।
जाके हृदय साच है ता हृदय हरि आप ॥ कबीर

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए।
वेद पुराण विदित मनु गाए ॥ रा० अयो० २७।३॥

सत्य एक बहुत बडा तप है। इस तप की अग्नि मे मनुष्य के दोष इस प्रकार भस्म हो जाते हैं जैसे स्वर्ण आदि धातुओं के खोट अग्नि मे भस्म हो जाते हैं। और दोषो के भस्म हो जाने पर भीतर के स्वाभाविक सद्‌गुण स्वयं प्रकट हो जाते हैं। अत सत्य समस्त सद्‌गुणों का मूल है।

महात्मा गाधी

इस विषय मे महात्मा गाधी का प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है। गाधी जी को बचपन से ही सत्य से स्वाभाविक प्रेम था। जिस समय ये हाई स्कूल मे पढा करते थे तब इनकी मित्रता इनके एक साथी से हो गई। वह मास खाता था। उसने इन्हे शिक्षा दी "मासाहार न करने के कारण ही हम लोग निर्बल राष्ट्र हैं। अंग्रेज जो हम पर राज्य कर रहे हैं इसका कारण उनका मासाहार ही है। मेरी देह कैसी दृढ है और मैं कितना दौड सकता हू, यह तो तुम्हे मालूम है ही। इसका कारण भी मेरा मासाहार ही है। मासाहारी को फोडे नहीं होते और हुँए तो झट-पट भर जाते हैं। हमारे अध्यापक मास खाते हैं, इतने प्रसिद्ध लोग खाते हैं, ये सब क्या बिना समझे-बूझे खाते हैं? तुम्हे भी अवश्य खाना चाहिए। खाकर देखो तो पता चलेगा कि तुम मे कितना बल आ जाता है।"

मित्र के इन वचनों से प्रभावित होकर गाधी जी ने मास खाना प्रारभ किया। "सपने मे ऐसा लगता मानो शरीर के भीतर बकरा जिंदा हो और रो रहा हो। मैं चौंक उठता, पछताता और फिर सोचता कि मेरा तो मासाहार किये ही छुटकारा है, इसलिए हिम्मत नहीं हारनी चाहिए।"

"ऐसे भोजनों के बाद घर पर खाना कठिन होता। मा खाने को बुलाती तो 'आज भूख नहीं है, पहले का भोजन नहीं पचा है', ऐसे बहाने बनाने पड़ते। ऐसा कहते हुए हर बार मेरे दिल को चोट लगती। यह झूठ और वह भी मा के सामने। ये विचार मेरे मन को कुतर रहे थे। अत मैंने निश्चय किया कि यद्यपि मास खाना आवश्यक है, उसका प्रचार करके हिन्दुस्तान का सुधार करना है, परन्तु मा-बाप से झूठ बोलना और उन्हे धोखा देना मासाहार से भी बुरा है। इसलिए उनके जीते जी मैं मास नहीं खा सकता। उनके मरने के बाद स्वतंत्र होने पर खुले-खजाने खाऊँगा। तब तक मासाहार स्थगित रहे। अपना यह निश्चय मैंने मित्र को सुना दिया और तब से मासाहार सदा के लिए छूट ही जो गया"।

(आत्मकथा)

इस मासाहार में इन पर और इनके साथी पर २५) का ऋण हो गया। इनके भाई के हाथ मे सोने का कडा था। उसमे से गाधी जी ने तोला भर सोना काट कर बेच दिया और ऋण चुका दिया। परन्तु गाधी जी को यह असह्य हो गया। इन्होने सोचा कि पिता के सामने प्रकट कर देने पर ही शान्ति मिलेगी। मुख से कह सकना कठिन जान पडा। तब इन्होने पत्र मे सब बाते लिख कर उसे पिता जी को दे दिया और आगे न करने की प्रतिज्ञा की और किये हुए अपराध के लिए दण्ड की प्रार्थना की। पिता के सामने प्रकट कर देने पर ही इनके चित्त को शान्ति मिली, चोरी की लत दूर हो गई और चित्त शुद्ध हो गया।

अत सत्य एक बहुत बडा तप है जो मनुष्य के समस्त दोषों को दूर हटा कर उसे शुद्ध कर देता है।

[३]

असत्य समस्त पापों का मूल है

नहिं असत्य सम पातक पुंजा।
गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥
रा० अयो० २७।३

असत्य सभी दोषों का, पापों का कारण है। जब मनुष्य किसी बुरे कर्म को करता है तो उसे भय लगता है कि यदि वह दूसरों पर प्रकट हो जायगा तो दूसरे लोग उसकी निन्दा करेंगे या उसे दण्ड देंगे। इस कारण वह झूठ बोलकर अपने दोषों को भीतर छिपाये रखता है। यदि वह सत्य कह देता है तो उसे अपने दोष से इतनी अधिक घृणा हो जाती है कि अन्त में उसे छोड़ ही देना पड़ता है। झूठ बोलकर छिपाने का प्रयत्न करने पर तो उसके दोष उसके भीतर ही जमा होते जाते हैं और अन्त में मनुष्य को बड़ा भारी कष्ट पहुँचाते हैं। ऐसे मनुष्य का जीवन बनावटी होता है। वह दम्भी, पाखंडी, मिथ्याचारी होता है।

अमरोहे के बर्तन

शहर अमरोहे में एक प्रकार का बर्तन बनता है जिसे कागजी कहते हैं। इस पर रुपहले काम की सजावट होती है। ये बर्तन देखने में बहुत सुन्दर हैं परन्तु इतने हलके-फुलके और थोड़े होते हैं कि थोड़े से ही उपयोग से तुरन्त टूट जाते हैं। फिर भी देखने में ये बड़े उपयोगी जान पड़ते हैं, पर इन्हें देखकर ही मन को सन्तुष्ट कर लेना होता है।

बहुत से (झूठ बोलने वाले) व्यक्ति भी इन कागजी बर्तनों के

समान होते हैं। उनका बाहरी रूप सुन्दर होता है, पर यदि तुम उन्हें किसी भी बात में कसौटी पर कसने का प्रयत्न करोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि उनके भीतर दिखावे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उन पर तनिक भी भरोसा न रखो क्योंकि उनकी दुर्बलता के लिए वह बहुत भारी बोझ है। (सुन्दर कहानियाँ)

चिञ्चमाणविका और बुद्ध

भगवान् बुद्ध सत्य का स्वयं पालन करते थे और दूसरों को अनेक युक्तियों से असत्य परित्याग करने और सत्य बोलने की शिक्षा दिया करते थे।

एक बार कुछ मनुष्यों ने बुद्ध को बदनाम करने का विचार किया। उन्होंने चिञ्चमाणविका नामक एक स्त्री को इस कार्य के लिए तैयार किया। चिञ्चमाणविका सायंकाल के समय जेतवन की ओर जाती और आसपास कहीं रहकर प्रातःकाल आकर कहती कि 'मैं रात में श्रमण गौतम के पास गन्ध-कुटी में रही हूँ'। इस प्रकार जब लगभग नव-दस माह बीत गये तो वह एक दिन सायंकाल अपने पेट पर लकड़ी बांध कर, लाल वस्त्र पहन कर, उदास मुख के साथ गर्भिणी जैसा रूप बनाकर जेतवन गई। उस समय बुद्ध सभा में बैठे उपदेश कर रहे थे। सभा में ही उसने बुद्ध को सम्बोधन करते हुए कहा— महाश्रमण!, आप तो एक बड़े जन-समूह के लिए धर्मोपदेश दे रहे हैं; आपकी वाणी मधुर है; किन्तु मैं आपके द्वारा गर्भिणी हुई हूँ; न तो आप मेरे लिए प्रसुति-गृह का प्रबन्ध करते हैं और न घी तेल आदि का। यदि आप नहीं कर सकते तो अपने सेवकों में से कोशल-राज, अनाथ पिण्डिक

या निशाखा किसी से कहिये कि मेरा प्रबंध करदें। बुद्ध भगवान ने उपदेश को रोककर कहा— "भगिनी! तेरे कहे हुए वचन के सत्य और असत्य को मैं और तू ही जानते हैं"। उसही समय चिवञ्च पेट पर बंधी हुई रस्सी बोझ के कारण ढीली हो गई और वह लकडी नीचे गिर गई। लोगों ने कहा "छि छि यह भगवान् की निन्दा कर रही है"। उन्होंने उसे मार पीट कर भगा दिया।

दूसरे दिन धर्म सभा मे उसकी चर्चा चली। भगवान् बुद्ध ने कहा

> एकं धर्ममतीतस्य मिथ्यावादिनो जन्तुन।
> वितृष्णपरलोकस्य नास्ति पापमकरणीयम्॥
>
> धम्मपाद १३।१०

एकमात्र धर्म जो सत्य है उसका अतिक्रमण करके जो झूठ बोलता है उस परलोक की चिन्ता से रहित पुरुष के लिए कोई भी पाप ऐसा नहीं है जिसे वह न कर सके। असत्य समस्त पापो का मूल है।

राहुल

एक बार बुद्ध भगवान् अपने पुत्र राहुल के निवास स्थान पर गये। दूर से भगवान् को आते देखकर राहुल ने आसन बिछा दिया और पैर धोने के लिए पानी रख दिया। बुद्ध ने आसन पर बैठकर पैर धोये। राहुल भगवान् को नमस्कार करके एक ओर बैठ गया। बुद्ध ने पैर धोने के बर्तन मे थोडा सा पानी रख छोडा और राहुल से कहा, "राहुल! क्या तुम यह थोडा सा पानी देखते हो?"

"जी हा भदन्त!" राहुल ने उत्तर दिया।

"राहुल ! जिन्हें झूठ बोलने मे लज्जा नहीं आती उनका श्रामण्य (संयम) इस पानी के समान दूषित है"।

फिर उस वर्तन को उल्टा करके भगवान् बोले, "राहुल ! जिन्हें झूठ बोलने मे लज्जा नहीं आती उनका श्रामण्य (संयम) इस वर्तन के समान उल्टा समझना चाहिये"।

फिर उसे सीधा करके बुद्ध बोले, "राहुल ! क्या तुम यह रिक्त पात्र देखते हो ?"

"जी हा भदन्त !" राहुल ने उत्तर दिया।

"राहुल ! जिन्हें झूठ बोलने मे लज्जा नहीं आती, उनका श्रामण्य (सयम) इस पात्र के समान रीता है। हे राहुल ! लडाई के लिये तैयार किया हुआ राजा का हाथी पैरा से लडता है, मस्तक से लडता है, कानो मे लडता है। परन्तु केवल सूड को अलग रखता है। तब महावत को ऐसा लगता है कि यह इतना वडा राजा का हाथी सब अवयवों से लडता है, केवल सूड को अलग रखता है तो संग्राम-विजय के लिये इसने अपना सर्वस्व समर्पित नहीं किया है। यदि वह हाथी अन्य अवयवों के साथ सूड का भी प्रयोग करे तो महावत समझता है कि हाथी ने संग्राम-विजय के लिये अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है, अब इसमें कोई त्रुटि नहीं रही है।

इसही प्रकार मैं कहता हूँ कि जिन्हें झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती उन्होंने कोई भी पाप नहीं छोडा है। जिसने असत्य नहीं छोडा उसने कोई दोष नहीं छोडा। जो सत्य को साथ मे रखकर भीतरी शत्रुओं से युद्ध नहीं करता वह सच्चा योद्धा नहीं।

अत हे राहुल! तुम ऐसा अभ्यास करो कि मैं हंसी मजाक में भी झूठ नहीं बोलूगा।"

४]

सत्य भाषण के अग

(क) दूसरो के हित की भावना

सत्य भाषण करते समय मनुष्य के भीतर दूसरों के हित की भावना होनी चाहिये अन्यथा उसका भाषण आपातत सत्य होने पर भी बहुत निकृष्ट कोटि का सत्य अथवा असत्य का जनक होगा। अत योगदर्शन के भाष्यकार ने लिखा है

'एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान् न सत्य भवेत्, पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतम प्राप्नुयात्, तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।' (योगसूत्र व्यासभाष्य २।३०)

'सत्य वाक्य का प्रयोग समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए करना चाहिये, न कि प्राणियों की हानि के लिये। यदि ठीक-ठीक वाक्य बोलने से प्राणियों की हानि होती हो तो वह सत्य नहीं होगा, पाप ही होगा। वह देखने में पुण्य प्रतीत होता है किन्तु वस्तुत पुण्य का उल्टा है, पाप है, अत परिणाम में उससे बोलने वाले को और दूसरों को अत्यधिक कष्ट मिलता है। इसलिए अपनी परिस्थिति के अनुसार भली प्रकार विवेक करके सबका हितकारी वचन बोले।'

सत्यव्रत

इस विषय में देवी भागवत में एक कथा मिलती है। सत्यव्रत

नामक एक ऋषिकुमार गंगा तट पर निर्जन स्थान में भजन किया करते थे। एक दिन एक शिकारी उधर शिकार खेलने गया। उसने अपने बाण से एक सूअर को घायल किया। घायल सूअर अपनी जान बचाने के लिए भागता हुआ सत्यव्रत के आश्रम में पहुचा और एक घने कुँज में छिप गया। ऋषिकुमार का हृदय उसे देख कर दयार्द्र हो गया। कुछ समय में व्याध भी अपने शिकार को ढूँढता हुआ उधर आ पहुचा। उसने सत्यव्रत से पूछा कि देव। मेरा बाण लगा हुआ सूअर किधर गया है ? मेरा परिवार भूख से व्याकुल है। पशुओं को मार कर परिवार का पालन करना ही हमारा जीवन-निर्वाह का साधन है। अत कृपया यह बतलाएँ कि सूअर किधर गया है ?

यहाँ सत्य का पालन करने के लिए, सत्यव्रत के लिए यह तो बहुत आसान है कि वे स्पष्टतया वह स्थान बतलाएँ कि जिधर सूअर गया है। परन्तु ऐसा करना उनका अप्रत्यक्ष रूप में एक निरपराध पर अत्याचारी के अत्याचार में सहायता देना होगा। यह सभव है कि वे मौन हो जायें। परन्तु यदि मौन होना सभव न हो ? क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है कि उस निरपराध जीव की हिंसा भी न हो और सत्य का पालन भी हो सके ? इस विचार-संकट में पड कर सत्यव्रत ने भगवती माता का स्मरण किया और उनके हृदय में यह स्फुरणा हुई और उन्होंने कहा

> या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति ।
> अहो व्याध स्वकार्यार्थिन् किं पृच्छसि पुन पुन ॥
> (दे० भा० ३।११।४१)

'जो नेत्र देखती है वह बोल नहीं सकती, जो बोल सकती है वह देख नहीं सकती, अतः हे स्वार्थी व्याध ! तू बार बार मुझसे क्या पूछता है ?' ऐसा कह कर सत्यव्रत ने उसे टाल दिया।

यहाँ उनके मन में जैसा ज्ञान है उससे विपरीत ज्ञान देने की भावना नहीं है अतः सत्यव्रत का यह आचरण सत्य के अनुकूल ही है।

ऐसे अवसरों पर कुछ व्यक्ति असत्य भाषण को भी सत्य ही मानते हैं। जैसा कि कहा गया है :

सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा,
दयान्वितं चानृतमेव सत्यम्।
हितं नराणां भवतीह येन,
तदेव सत्यं न चान्यथैव॥

(दे० भा० ३।११।३६)

'जिस सत्य में हिंसा होती हो वह सत्य नहीं है। दया से युक्त अनृत-भाषण भी सत्य ही है। जिससे मनुष्यों का हित होता है वही सत्य है, इससे विपरीत नहीं।'

निःसन्देह किसी बड़े सत्य की रक्षा करने के लिए मनुष्य कभी कभी विशेष परिस्थिति में छोटे असत्य को स्वीकार कर सकता है। परन्तु है यह असत्य ही। यह उस व्यक्ति की दुर्बलता है। पूर्ण सत्य तभी होगा जब कि वह या तो चुप हो जाय या सत्य को स्पष्ट कहदे और इसके परिणामस्वरूप जो भी कष्ट अपने आप पर या अपने प्रियों पर आये उन्हें सहर्ष सहन करे।

इसके अतिरिक्त देश और समाज के इतिहास में अनेक बार

ऐसे अवसर आ जाते हैं जबकि आपातत हित की अपेक्षा आपातत अहित में अधिक और महत्तर हित होता है। रूस में कुछ दशाब्दी पूर्व वहाँ के राजा ज़ार ने अपने कर्मचारियों के लिए बहुत अधिक अन्न एकत्रित कर लिया था जिससे साधारण प्रजा भूखों मर रही थी। कुछ देशभक्तों ने धन एकत्रित करके भूखों में अन्न वितरण करने की योनना बनाई। लेनिन ने इस योजना का विरोध करते हुए कहा कि इस योजना का परिणाम यह होगा कि देश में बढती हुई क्रान्ति दब जायगी। इन्हें भूखों मरने देना चाहिये तभी ये क्रान्ति करेंगे और सरकार बदलने के लिए अपना बलिदान दे सकेंगे।

परहित के पक्षपाती यह कह सकते हैं कि यदि सुकरात थोडा सा जुर्माना देकर अपने जीवन को बचा लेते तो यह उनके अपने लिए और दूसरों के लिए हितकारी होता। परन्तु तब उनके विषपान से जो यूरोप में ज्ञान का अन्वेषण और प्रसार हुआ वह कैसे होता? यह कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्र के अनुसार रामचन्द्र जी गद्दी के अधिकारी थे। यदि वे दशरथ की आज्ञा की अवहेलना करके राज्य-शासन अपने हाथ में रखते तो न उन्हे चौदह वर्ष तक वनों में रहकर कष्ट भोगने पडते, न सीता का अपहरण होता और न लक्ष्मण को युद्ध में घायल होना होता। परन्तु रामचन्द्र जी के वन में जाने और सीता के अपहरण से जो राक्षसों का विनाश हुआ और धर्मराज्य की स्थापना हुई और पीछे से मानव जाति का कल्याण हुआ, उनके वन में न जाने पर ये महान् कार्य कैसे होते? यह कहा जा सकता है कि यदि जोरावरसिंह, फतहसिंह और हकीकतराय परकीय धर्म को स्वीकार कर लेते तो यह उनके और दूसरों के लिए हितकारी होता।

किन्तु ऐसा होने पर उनके बलिदान से जो हिन्दू-जाति में आत्मरक्षा की भावना और उसके लिए बलिदान करने का बल उत्पन्न हुआ वह कहां से आता? यह कहा जा सकता है कि भगतसिंह जैसे देशभक्त अपने जीवन की रक्षा के लिए यह कह देते कि हम भविष्य में कोई राजद्रोहात्मक कार्य नहीं करेंगे और इस प्रकार अपने जीवन को बचा लेते। परन्तु वैसा करने पर उनके बलिदान से जो देश मे अग्नि प्रदीप्त हुई और फिर सन् १६३०-३१ के सत्याग्रह के रूप मे परिणत हो गई— यह कैसे होती? अत सत्य का पालन करते समय शुद्ध भाव से दूसरो के हित की भावना को हृदय मे रखते हुए हित का भार अपनी व्यक्तिगत बुद्धि पर न रखकर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर पर ही छोड देना चाहिये और यह विश्वास रखना चाहिये कि सत्य का पालन करने में जो कष्ट आयेंगे उनका परिणाम हितकारी ही होगा। इसही भाव से निम्नलिखित श्लोक कहा गया है

आत्मार्थे वा परार्थे वा पुत्रार्थे वाऽपि मानवा ।
अनृत ये न भाषन्ते ते बुधा स्वर्गगामिन ॥

'जो अपने लिए, दूसरे के लिए अथवा पुत्र के लिये भी असत्य नहीं बोलते वे बुद्धिमान् पुरुष देवलोक को जाते हैं।'

विरोचन और सुधन्वा

इस विषय मे महाभारत में एक कथा आती है। केशिनी नामक एक रूपवती कन्या के विवाह के लिए स्वयंवर रचा गया। उसमें विरोचन नामक दैत्य-राजकुमार पहुँचा। उसने केशिनी के सामने चुनाव के लिए अपने आपको उपस्थित किया। केशिनी ने उससे

पूछा कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिये तप साधना करने वाला व्यक्ति (ब्राह्मण) श्रेष्ठ होता है या धनादि का संग्रह करके अपने शरीर को पुष्ट करने वाला एवं भोग-विलासप्रिय व्यक्ति (दैत्य, असुर)? विरोचन ने उत्तर दिया कि हम प्रजापति की संतान हैं। बहुत बड़े साम्राज्य पर हम लोगों का आधिपत्य है। हमारे सामने ये निर्धन ब्राह्मण तुच्छ हैं। अतः हम ही श्रेष्ठ हैं। केशिनी ने उत्तर दिया— अच्छा कल प्रातःकाल सुधन्वा नामक ब्राह्मण आयगा। उसके सामने निर्णय होगा। तुम उसही समय आ जाना। प्रातःकाल विरोचन और सुधन्वा दोनों उपस्थित हुए। विरोचन ने सुधन्वा से कहा कि हम असुरों के पास जो कुछ भी सोना, गाय, घोड़ा आदि धन है मैं उस सबकी बाजी लगाता हूँ। हम और तुम दोनों चल कर जो इस विषय के जानकार हों उनसे निर्णय करालें कि हम दोनों में श्रेष्ठ कौन है? सुधन्वा ने कहा— हे विरोचन! सोना, गाय, अश्व आदि धन तो आप अपने पास ही रखें। हम दोनों प्राणों की बाजी लगा कर इस विषय के जानकार से निर्णय करालें। विरोचन ने कहा कि इस विषय का निर्णय कौन करेगा? देवताओं और मनुष्यों में मेरी आस्था नहीं है। सुधन्वा ने उत्तर दिया कि प्राणों की बाजी लगा कर हम तुम्हारे पिता के पास चलेंगे। मेरा विश्वास है कि तुम्हारे पिता प्रह्लाद अपने पुत्र के लिये भी अनृत नहीं बोलेंगे:

पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतं वदेत्

महाभारत उद्योग ३५।२१॥

ऐसा कह कर वे दोनों विरोचन के पिता प्रह्लाद के पास गये और उन्होंने अपने विवाद-ग्रस्त प्रश्न को पूछा। प्रह्लाद ने बात को टालते हुए सुधन्वा से कहा कि विरोचन मेरा इकलौता पुत्र है।

यदि मैं इसके अनुकूल निर्णय दूँगा तो तुम कहोगे कि मैंने पक्षपात किया है और यदि तुम्हारे पक्ष में निर्णय देता हूँ तो पुत्र की हत्या का दोष मुझे लगता है। ऐसी दशा में तुम किसी दूसरे निर्णायक को चुनो। सुधन्वा ने उत्तर दिया कि कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा नहीं है कि जिसमें विरोचन का विश्वास हो, आपमें इसका विश्वास है। और मेरा भी यही विश्वास है कि आप सत्य ही निर्णय देंगे। अतः आप ही इसका निर्णय कर सकते हैं, कोई दूसरा नहीं। यह बात सुनकर प्रह्लाद ने अपने पुत्र के मोह का त्याग करते हुए निर्णय दिया कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए तप साधना करने वाला (ब्राह्मण) सुधन्वा विरोचन से श्रेष्ठ है। सुधन्वा इस निष्पक्ष निर्णय को सुनकर प्रसन्न हुआ और उसने विरोचन को जीवनदान दे दिया।

इसलिए यदि किसी परिस्थिति में बोलना अनिवार्य हो तो असत्य नहीं बोलना चाहिए। सत्य ही बोलना उचित है, चाहे उसका कुछ भी परिणाम क्यों न हो।

(ख) मधुरता

जिह्वा मे मधुमत्तमा*

मेरी जिह्वा अत्यन्त मधुरभाषिणी हो, मधुवर्षिणी हो।

सत्य बोलते समय मनुष्य को सदा यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उसे यथासम्भव मधुर भाषा में दूसरों को प्रिय लगने वाली भाषा में कहे। बिना किसी प्रयोजन के दूसरों को अप्रिय लगने वाली बात न कहे। किसी अंधे या काणे को अंधा या काणा कहना सत्य तो अवश्य है किन्तु यह बहुत नीची कोटि

* तै० उ० १।४।१

का सत्य है, सत्याभास है, विष मिले अन्न के समान है। इसमें दूसरे के चित्त को पीड़ा पहुचाने की कलुषित भावना है। इसही प्रकार यदि किसी व्यक्ति ने कभी चोरी की है या कोई दूसरा दुष्कर्म किया है तो जब भी कभी वह दिखाई दे सदा उसे चोर या दुराचारी कह कर संबोधन करना अथवा उसके पीछे दूसरों मे उसके दोष का ढोल पीटते फिरना उचित नहीं है। मनुष्य के भीतर जो असूया या निन्दा करने की कुप्रवृत्ति होती है उसका ही यह परिणाम है। हाँ, यदि ऐसे मनुष्य से किसी व्यक्ति या समाज की हानि होने की संभावना दिखाई देती हो तो उन्हे सावधान करना कर्तव्य होता है, किन्तु जिस व्यक्ति से सावधान किया जाता है उसके प्रति हृदय मे द्वेष या निन्दा की भावना न होकर प्रेम, दया, हित की भावना ही होनी चाहिए। अत गीता ने कहा है :

अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहित च यत् (१७।१५)

श्रेष्ठ वचन वह होता है जो कि किसी को व्यर्थ ही कष्ट देने वाला न हो, सत्य हो, प्रिय लगने वाला हो और हितकारी हो।

विदुर जी कहते हैं

अभ्यावहति कल्याण विविध वाक् सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥

महा० उ० ३४।७७॥

हे राजन्! मधुर शब्दो मे कही हुई वाणी अनेक प्रकार से कल्याण करती है, किन्तु वही वाणी कटु शब्दों मे कही जाने पर महान् अनर्थ का कारण बन जाती है।

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति,
यैराहतः शोचति राऽयहानि।
परस्य नाममंसु ते पतन्ति,
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः॥

म० उ० ३४।८०॥

कटु वचन रूपी बाण मुख से निकल कर दूसरों के मर्मों पर आघात करते हैं, उनसे आहत मनुष्य रात-दिन व्यथित होता रहता है। अतः विद्वान् मनुष्य को चाहिये कि दूसरों के मर्मों को पीडा पहुचाने वाली वाणी का प्रयोग न करे।

मनुजी कहते हैं :

नारुन्तुद स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोहकर्मधी।
ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्या तामुदीरयेत् ।२।१६१॥

पीडित होने पर भी दूसरों के मर्म को पीड़ा पहुँचाने वाली वाणी न कहे, न दूसरो के द्रोह में मन लगाये और न वैसे कर्म करे। जिस वाणी से दूसरों के मर्म को पीड़ा पहुँचती है वह श्रेष्ठ लोकों को ले जाने वाली नहीं होती, अतः ऐसी वाणी न बोले।

सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्॥ ४।१३८॥

सत्य बोले, प्रिय बोले, सत्य को अप्रिय भाषा में न बोले। 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' इस वचन का कुछ व्यक्ति यह अर्थ करते हैं कि सत्य यदि अप्रिय हो तो नहीं कहना चाहिये। उनका ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। कारण जीवन में अनेक अवसर ऐसे आते हैं जबकि सत्य कटु होता है किन्तु उसके न कहने से हानि होती है। अतः ऐसे अवसरों पर अप्रिय होने पर भी उसका कहना आवश्यक होता है। महाभारत युद्ध के अवसर पर विदुर ने धृतराष्ट्र

और दुर्योधन को, भीष्म और श्रीकृष्ण ने कर्ण को अनेक कटु वाक्य कहे हैं। शंकराचार्य ने शास्त्रार्थ के अवसरों पर किसी को बैल कहा है (वलीवर्दोऽयं नैय्यायिक), किसी को कहा है कि तुम्हारा मुख निरंकुश है (निरकुशत्त्वात् ते तुण्डस्य)। मीमांसक जो यज्ञ में पशु की हिंसा किया करते थे उनके विरुद्ध दूसरे मतानुयायियों ने कहा है कि यदि यज्ञ में मारा जाने वाला पशु स्वर्ग में पहुँच जाता है तो यजमान अपने पिता को मार कर स्वर्ग में क्यों नहीं पहुँचा देता

> पशुश्चेन्निहत स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
> स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥

जिस समय राष्ट्रीय आंदोलन चल रहा था तो श्री अरविन्द ने ब्रिटिश शासन और एंगलो इंडियन पत्रों के सम्पादकों के विरुद्ध कटु-वाक्य कहने में कमी नहीं की है। जिस समय यूरोप के पादरी विदेशी राज्य की नींव को भारत में दृढ करने के लिए यहां के धर्म और संस्कृति पर कटुतापूर्ण आक्रमण किया करते थे तो उनकी भाषा के अनुरूप श्री अरविन्द के कटु-वाक्य देखने योग्य हैं। स्वामी दयानन्द से एक व्यक्ति ने कहा कि 'स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्' यह श्रुति कहती है कि स्त्री और शूद्र को पढने का अधिकार नहीं है। तब फिर आप क्यों उन्हें पढने पढाने का प्रचार करते हैं? स्वामी दयानन्द ने उत्तर दिया कि 'तुम भाड में पडो और तुम्हारी यह श्रुति भी भाड में पडे। न यह श्रुति है न किसी प्रामाणिक ग्रंथ की उक्ति है।' अत अनेक वार जीवन में प्रिय भाषा से काम नहीं चलता तो कटु भाषा का प्रयोग करना लाभदायक होता है और जो ऐसा कर सकते हैं वही वीर, महान् पुरुष होते हैं। ऐसे अवसरों

पर कोमल भाषा का प्रयोग करना कायरता का द्योतक है। अतः विदुर जी कहते हैं :

अप्रियस्य च सत्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ.।

अप्रिय सत्य का कहने वाला और सुनने वाला मनुष्य दुर्लभ होता है।

सुनने वाले को प्रिय लगे केवल इसलिए असत्य कहना अनुचित है। इसे झूठी चापलूसी कहा जाता है अतः मनु जी सावधान करते हुए कहते हैं :

प्रियं च नानृतं ब्रूयात् ॥४।१३८॥

प्रिय वाणी असत्य न बोले।

(ग) मित भाषण

जो मनुष्य सत्यभाषी होना चाहता है उसे यथाशक्ति मितभाषी होना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि जो मनुष्य अधिक बोलता है वह गंभीर चिंतक और महान् कर्म करने वाला नहीं होता। अधिक बोलने में वाणी पर संयम नहीं रहता और कुछ न कुछ असत्य अवश्य बोला जाता है। बुद्धिमान् मनुष्य वह है जो बोलने से पहले क्या कहना चाहिये उसे सोच लेता है और उतना ही बोलता है जितना आवश्यक हो।

(घ) मौन

सत्यभाषी होने के लिये कभी-कभी मनुष्य को मौन रहने का भी अभ्यास करना चाहिये। अधिक नहीं तो सप्ताह में या महीने में एक दिन।

इसके अतिरिक्त सत्य का सदा कह देना आवश्यक नहीं होता। अनेक बार सत्य का कह देना अनुचित होता है, विश्वासघात और

पाप होता है। अतः ऐसे अवसरों पर मौन रहना ही कर्तव्य होता है। उदाहरण-स्वरूप यदि कोई सन्दिग्ध व्यक्ति आप से पूछता है कि आपका धन कहां रखा है, किस-किस मार्ग से आपके घर में जाना सभव है, किस समय पर आप या आपके घर वाले वहां नहीं रहते इत्यादि तो उसे यह सब नहीं बतलाया जा सकता। कारण यह सब भेद लेकर वह आपके धन का अपहरण कर सकता है। इसही प्रकार मानलो एक व्यक्ति अपने मित्र के मकान पर नित्य जाया करता है। वह मित्र बहुत प्रेम से उसका स्वागत करता है और अपने घर की सब बातें उसे बतला देता है। वह उससे यह आशा नहीं करता कि वह उसके घर के भेद को चोरों या उसके शत्रुओं पर प्रकट करेगा। परन्तु यदि वह मनुष्य किसी के पूछने पर घर का सब भेद बतला देता है तो यह मित्र के साथ विश्वास-घात होगा। इसही प्रकार युद्ध के अवसर पर अपने पक्ष की सेना के गुप्त भेदों का कहना सत्य होने पर भी आवश्यक और उचित नहीं है।

इसही प्रकार रुई, चीनी, सोना, चांदी आदि पदार्थों पर सरकार की ओर से कर घटने या बढ़ने के अवसर पर यदि वित्त-मंत्री या उसका क्लर्क अपने किसी सम्बन्धी या मित्र के पूछने पर या विना पूछे यह रहस्य बतला देता है तो वे अरबों रुपयों के सामान का क्रय-विक्रय करके एक ही दिन में करोड़पति बन सकते हैं और हजारों, लाखों सच्चे धनवान् व्यक्ति दरिद्र बनाये जा सकते हैं। उनका सत्य भाषण एक प्रकार की चोरी, लूट और डकैती से कम नहीं है। अतः यह घोर अपराध माना जाता है और ऐसा करने वालों को पता चल जाने पर न्यायपरायण सरकार की ओर से दण्ड दिया ही जाता है।

इसही प्रकार मानलो एक अबला स्त्री पर कुछ गुण्डे अत्याचार करने का षड्यंत्र रचते हैं। वह छिप कर भाग जाती है। पीछे गुण्डे ढूंढते हुए आते हैं और किसी व्यक्ति से पूछते हैं कि अमुक स्त्री किधर गई है। ऐसे अवसर पर यदि वह व्यक्ति सत्य सत्य बतला देता है तो उसका सत्य-भाषण एक प्रकार के दुराचार में, मिथ्याचार में सहायता करना होगा। ऐसे अवसर पर चुप हो जाना चाहिये और जो भी कष्ट अपने ऊपर आये उसे सहर्ष सहन करना चाहिये।

अतः अनेक बार सत्य बोलना एक बड़े असत्य का, बड़े मिथ्याचार का जनक हो जाता है। वहां मौन हो जाना ही सत्य भाषण है।

स्वामी श्रद्धानन्द

इस विषय में एक ऐतिहासिक घटना है। जिस समय हरिद्वार में गंगनहर का निर्माण हो रहा था और गंगा के पानी को रोक कर नहर में निकाल दिया गया था तो हिन्दुओं की ओर से इसके विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उस समय भारतीय सरकार के एक इंजीनियर गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक महात्मा मुंशीराम के पास पहुंचे और उनसे पूछा कि गंगा के पानी को रोकने से आपकी तो कोई हानि नहीं है? उन्होंने उत्तर दिया कि हमारी कोई हानि नहीं है। हमारे गुरुकुल के पास तो गंगा की धारा जैसी पहले थी वैसी ही अब भी है, उसमें लेशमात्र भी कमी नहीं हुई है। यह सुन कर इंजीनियर महोदय ने उनसे कहा कि कृपया आपने जो कहा है उसे आप लिखकर मुझे दे दें। मुंशीराम जी ने उत्तर दिया कि लिखकर मैं नहीं दे सकता। कारण मेरे लिखकर देने पर आप मेरे लेख का

उपयोग गंगा के पानी को रोकने में करेंगे । मेरी व्यक्तिगत या हमारे गुरुकुल की हानि न होने पर भी दूसरे तीर्थस्थानों की जो हानि होगी उसका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर आ जायगा । अभी तक यह प्रसिद्ध है कि भगीरथ गंगा को लाये थे, आगे से यह प्रसिद्ध हो जायगा कि मुंशीराम ने उसे बन्द कर दिया । अत उन्होंने उसे लिखकर नहीं दिया ।

आध्यात्मिक जीवन में एक योगी का अपने अनुभवों को या साधना के रहस्य को बिना पूछे या किसी अनधिकारी के पूछने पर कह देना उचित नहीं है । स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि जो तप न करता हो, भक्ति न करता हो, जिसे सुनने की इच्छा न हो अथवा जो मेरी (भगवान् की) निन्दा करता हो उसे गीता नहीं सुनानी चाहिये

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ १८।६७॥

यास्काचार्य ने निरुक्त में लिखा है कि जो व्यक्ति किसी विद्या को समझने में असमर्थ हो उसके सामने उसे कहने से वह अपने दोष को न मानकर स्वयं वक्ता की ही निन्दा किया करता है । अत उसके सामने ऐसी विद्यायें नहीं कहनी चाहिये । जो मेधावी हो, श्रद्धापूर्वक सुनने की इच्छा रखता हो (उपसन्नाय), तपस्वी हो (तपस्विने), उसे ही उच्चकोटि का ज्ञान बतलाना चाहिये । जो निन्दा करता है (असूयकाय), कुटिल प्रकृति का है (अनृजवे), असंयमी है (अयताय) उसके प्रति उच्चकोटि की विद्या कहने से उसका तेज, बल क्षीण हो जाता है, अत ऐसे व्यक्तियों के प्रति उसे नहीं कहना चाहिए । अनधिकारी व्यक्तियों के प्रति न कहने से और अधिकारी

व्यक्तियों के प्रति कहने से ही उसमें बल आता है, उसकी उन्नति होती है (वीर्यवती यथा स्याम्)।

इस विषय में श्री अरविन्द लिखते हैं— "राजनीति, युद्ध, क्रान्ति दावपेंच दावघात के विषय हैं। वहाँ मनुष्य से सब कुछ सच सच बता देने की आशा नहीं की जा सकती।"

"हमारी योजनाओं एवं प्रवृत्तियों को जानने का जिन्हें कोई प्रयोजन नहीं है और जो उन्हें समझने में असमर्थ हैं अथवा जो शत्रुवत् व्यवहार करेंगे या अपने ज्ञान के परिणामस्वरूप सब कुछ बिगाड़ डालेंगे उन्हें अपनी योजनायें तथा प्रवृत्तियाँ बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं। आध्यात्मिक विषयों में रहस्य को गुप्त रखना सर्वथा उचित है और ऐसा प्राय किया ही जाता है। केवल गुरु-शिष्य जैसे विशेष सम्बंधों में ही इस नियम का अपवाद किया जाता है। हम बाहर के मनुष्यों को यह पता नहीं लगने देते कि आश्रम में क्या हो रहा है, परन्तु इस विषय में हम झूठ भी नहीं बोलते। अधिकतर योगी आध्यात्मिक अनुभवों के सम्बन्ध में दूसरों को कुछ भी नहीं बतलाते अथवा बहुत दिनों बाद तक नहीं बतलाते। रहस्य को गुप्त रखना प्राचीन गुह्यवेत्ताओं का एक साधारण नियम था। कोई भी नैतिक या आध्यात्मिक नियम हमें जगत् के सामने अपने को नग्न रूप में उपस्थित कर देने या जन-साधारण के निरीक्षण के लिए अपने मन और हृदय को खोल कर रख देने का आदेश नहीं देता*।"

---

* श्री अरविन्द अपने तथा माता जी के विषय में।

(संस्मरण और टिप्पणियां १७-५-१९३६)

एक दूसरे स्थान पर श्री अरविन्द लिखते हैं "तुम्हे सदा सत्य ही बोलना चाहिये न कि असत्य। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हें प्रत्येक बात को सब से कह ही देना चाहिये। मौन होकर या उत्तर देना अस्वीकार करके सत्य को छिपाने की अनुमति है, कारण जो सत्य के लिये तैयार नहीं हैं वे उसे भ्रान्त रूप मे समझ सकते हैं या उसका दुरुपयोग कर सकते हे— यह भी सभव है कि वे उसे विकृत करने या मिथ्या रूप देने का साधन बनाएं। परन्तु असत्य बोलना दूसरी बात है। हसी मे भी असत्य नहीं बोलना चाहिये, क्योंकि यह चेतना को नीचे ले आता है*।"

एक नीतिकार ने कहा है कि बिना पूछे या अन्यायपूर्वक पूछने पर नहीं बोलना चाहिये—

नापृष्ट कस्यचिद ब्रूयान्नचान्यायेन पृच्छत ।

अत सत्य भाषण जहाँ आवश्यक न हो अथवा जहाँ उसका दुरुपयोग होता हो वहाँ उसे न कहना, पूछे जाने पर चुप हो जाना, मौन हो जाना ही कर्तव्य है।

मौन असत्य

कभी कभी मौन रहना भी असत्य भाषण हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप एक व्यक्ति किसी के विषय में यह कह रहा है कि ये बड़े दानी हैं। इन्होंने बडा भारी त्याग करके इस धर्मशाला या विद्यालय को बनवाया है इत्यादि। यदि उसने यह कार्य नहीं किया है और वह अपनी झूठी प्रशंसा को सुन कर भीतर ही भीतर

* श्री अरविन्द के पत्र। २२-१२-१६३३

प्रसन्न होता है और उस प्रशंसा का प्रतिवाद नहीं करता तो उसका मौन रहना भी असत्य भाषण ही है।

इसही प्रकार मान लीजिये कोई व्यक्ति किसी के विषय में कहता है कि वह बी० ए० तक पढ़ा है। यहां बी० ए० तक पढ़ने के दो अर्थ हैं— प्रथम यह कि उसने बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की है। दूसरा यह कि वह परीक्षोत्तीर्ण नहीं है केवल पढ़ा है। ऐसी स्थिति में यदि बी० ए० तक पढ़ा कहने का अर्थ परीक्षा में उत्तीर्ण लगाया जाता हो और जो उसे जानता है वह उसका प्रतिवाद नहीं करता तो वह कुछ न बोलता हुआ भी असत्य भाषण ही करता है। यदि परिस्थितिवश प्रतिवाद करना संभव न हो तो वहां से हट जाना चाहिये। अतः मनु जी ने कहा है :

> सभा वा न प्रवेष्टव्य वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
> अब्रुवन् विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्विषी ॥ ८।१३॥

सभा में या तो मनुष्य को जाना नहीं चाहिये, जाय तो सत्य सत्य कहना चाहिये। यदि वहां कोई असत्य बोलता हो तो उसका खंडन करे या वहां से चला जाय। मौन रहने पर या उसका समर्थन करने पर मनुष्य असत्य भाषण का दोषी होता है।

(ङ) सरलता

सत्य बोलने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य के स्वभाव में सरलता हो। इस विषय में माता जी ने एक कहानी लिखी है :

सैयद अहमद

एक बार दिल्ली के बादशाह ने बहुत से व्यक्तियों को पुरस्कार के लिए

बुलाया। उनमें से एक नवयुवक भी था जिसका नाम सैयद अहमद था। जब राजा पुरस्कार बांट रहा था तो सैयद अहमद उपस्थित न था। बादशाह पुरस्कार बांटना समाप्त करके सिंहासन से उतर कर जाने लगा। उस समय वह नवयुवक उपस्थित हुआ। बादशाह ने टेढ़ी आंखें करके उसकी ओर देखा और पूछा कि इतनी देर में क्यों आये? नवयुवक ने उत्तर दिया कि बादशाह सलामत 'आज मैं देर तक सोता रहा'।

दरबारी लोग यह सुनकर स्तंभित रह गये और सोचने लगे कि बादशाह इसकी धृष्टता पर क्रुद्ध होकर इसे दण्ड देंगे। परन्तु बादशाह नवयुवक की सरलता, निर्भीकता और सत्यवादिता से प्रसन्न हुआ और उसे मोतियों की माला और सोने के आभूषण प्रदान किये।

इस प्रकार उस नवयुवक को जो सदा सत्य बोलता था, सत्य के परिणामस्वरूप अच्छा ही फल मिला।

(च) निर्भयता और स्वाभाविक प्रेम

सत्य का पालन मनुष्य कभी-कभी भयवश भी किया करता है। किन्तु सत्य हृदय की वस्तु है। इसका पालन सरलता से, अनायास, स्वाभाविक रूप से होना चाहिये। किसी के दबाव पड़ने पर जो व्यक्ति सत्य बोलता है, वह दबाव के न पड़ने पर या उल्टा दबाव पड़ने पर असत्य भी बोल सकता है। अतः माता जी लिखती हैं :

सिंह, भेड़िया और लोमड़ी

एक सिंह, एक भेड़िया और एक लोमड़ी शिकार करते हुए

जंगल मे मिले। उन्होंने एक गधा, एक हिरण और एक खरगोश—ये तीन जानवर मारे।

आखेट को सामने रखकर शेर ने भेड़िये से कहा, 'बताओ मित्र भेडिये, इस शिकार का बटवारा हम कैसे करें ?'

भेडिये ने उत्तर दिया— 'इन तीन पशुओं की काटाछूटी करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं। आप गधा ले लीजिये, लौमडी खरगोश ले लेगी और मैं हिरण मे ही संतुष्ट हो जाऊगा।'

इसके उत्तर में शेर ने एक क्रोध-भरी गर्जना की और भेडिये के परामर्श के पुरस्कार-स्वरूप अपने पंजे की एक ही चोट से उसका सिर कुचल दिया। अब वह लौमडी की ओर मुडा और बोला—

'मेरी प्यारी बहिन लौमडी तुम्हारा क्या प्रस्ताव है ?'

'यह तो बहुत सीधी बात है श्रीमन्!' लौमडी एक लम्बी दण्डवत् करके बोली— 'सबेरे का कलेवा आप गधे से कर लीजिये, हिरण को सायंकाल के भोजन के लिए रखिये और इस खरगोश का दोनों भोजनो के बीच मे जलपान कर लीजिये'।

'बहुत ठीक', सारे का सारा शिकार अपने को मिलता देख शेर सतुष्ट होकर बोला—'भला बताओ ऐसी बुद्धिमानी और न्याय प्रियता की बातें कहना तुम्हें किसने सिखाया है' ?

'भेडिये ने'—लौमड़ी ने चतुरतापूर्वक उत्तर दिया। लौमडी ने ऐसा क्यों कहा ? क्या उसने अपनी सच्ची भावना प्रकट की थी ? नहीं, बिल्कुल नहीं। तो क्या वह शेर को प्रसन्न करने की सच्ची भावना रखती थी ? यह भी नहीं। उसने तो भय के वशीभूत होकर ही ऐसा कहा था और इसके लिए निश्चय ही उसे भला-

बुरा नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसका कहना सत्य नहीं था, वह केवल उसकी चाल थी। और उस शेर ने भी जो उसे पसंद किया वह इसलिए कि उसे मास से प्रेम था, न कि सत्य से।

सुलेमान का सिंहासन

अबू अब्बास नामक एक मुसलमान ने राजा सुलेमान की कीर्ति-कथा लिखी है। यह राजा यहूदियों के पवित्र शहर यरूशलम पर राज्य करता था। उसके सभा-भवन में छै सौ चौकियां थीं जिनमें तीन सौ पर दरबार के बुद्धिमान् लोग बैठते थे और तीन सौ पर 'जिन' अपनी जादू की शक्ति से राजा की सहायता किया करते थे।

सुलेमान ने एक ऐसा चमत्कारपूर्ण सिंहासन बनवाया था जो किसी की कल्पना में भी नहीं आ सकता था। वह सिंहासन कुछ इस प्रकार का था कि जब राजा उस पर बैठा होता तो कोई व्यक्ति उसके सामने झूठ बोलने का साहस नहीं कर सकता था।

यह सिंहासन हाथी दांत का था, उसमें मोती, पन्ने और लाल जड़े थे। उसके चारों ओर चार सोने के खजूर के पेड़ थे जिन पर लाल और पन्ने के फल लगे थे। उन खजूरों के पेड़ों में से दो की चोटी पर सोने के दो मोर और दो पर सोने के दो गिद्ध बैठे थे। सिंहासन के दोनों ओर दो पन्नों के खम्भों के बीच में दो सोने के शेर खड़े थे। पेड़ों के तने के चारों ओर सोने की एक अंगूर की बेल फैली थी जिस पर लालों के अंगूर लटक रहे थे।

इज़रायल के बड़े बूढ़े लोग सुलेमान की दायीं ओर बैठते थे

और इनकी कुर्सियां सोने की थीं। जिनों का स्थान राजा की बाईं ओर था, इनकी कुर्सियां चांदी की थीं।

राजा जब अपना न्याय-दरबार करता तो प्रत्येक मनुष्य उसके पास जा सकता था। जब कोई मनुष्य किसी दूसरे की गवाही दे रहा होता और वह यदि सत्य से लेशमात्र भी इधर उधर होता तो एक विचित्र घटना घट जाती। सिंहासन, शेर, खजूर के पेड़, मोर और गिद्ध सब एकदम उसकी ओर घूम जाते। शेर अपने पंजे आगे की ओर फेंकने और पूछें भूमि पर पटकने लगते, मोर और गिद्ध भी अपने पंख फड़फड़ाने लगते।

इससे गवाह भय से कांप उठता था और जरा भी झूठ बोलने का साहस नहीं कर सकता था।

निःसंदेह यह सब राजा के लिए बड़ी सुविधा का था और इससे उसका कार्य अति सुगम हो जाता था। परन्तु भय तो सदा ही दुःखदायी वस्तु होता है, इसका सत्य के साथ ठीक मेल नहीं बैठता।

अबू अब्बास की कहानी के अनुसार भय मनुष्य को कभी-कभी सत्य बोलने को विवश तो करता है पर उसे सत्यवादी नहीं बनाता। क्यों कि वह उसे कुछ समय बाद असत्य बोलने के लिए भी विवश कर सकता है, जैसा कि हमारी पहली कहानी में लोमड़ी के साथ हुआ था, और ऐसा बहुधा हुआ करता है।

सत्य बोलना सीखने के लिए एक स्वच्छ हृदय वाले मनुष्य को सुलेमान के सिंहासन के चमत्कार की आवश्यकता नहीं। सत्य का सिंहासन उसके अपने हृदय में होता है। उसके अन्तःकरण

की सचाई ही उसे सत्य वचन कहने के लिए प्रेरित कर सकती है। वह इसलिए सत्य नहीं कहता कि उसे किसी शिक्षक, स्वामी या न्यायाधीश का डर है, अपितु इसलिए कि यही एक सच्चे मनुष्य के लिए उचित है, यह उसके स्वभाव का एक अंग है।

यह उसका स्वाभाविक सत्य-प्रेम है जो उसे सब भयों से निडर बनाता है। वह वही कहता है जो उसे कहना चाहिये, चाहे उसके लिए उसे कितना भी कष्ट क्यो न उठाना पडे"।

× × ×

सत्य के प्रति स्वाभाविक प्रेम की अनेक अद्भुत घटनायें पाश्चात्य और भारतीय इतिहास मे मिलती हैं।

गोपालकृष्ण गोखले

श्री गोपालकृष्ण गोखले जब पाठशाला मे पढते थे तो एक दिन उनके अध्यापक ने कुछ अङ्कगणित के प्रश्न निकालने के लिये विद्यार्थियों को दिये। उनमे से एक प्रश्न गोखले को जब समझ मे न आया तो उसे दूसरे विद्यार्थी से पूछकर हल किया।

पाठशाला मे केवल गोपालकृष्ण के सभी प्रश्न ठीक थे। शिक्षक ने प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा की और उन्हे पुरस्कार देने लगे। परन्तु गोपालकृष्ण ने कहा कि मैं पुरस्कार नहीं लूंगा। अध्यापक ने पूछा— क्यों ? गोखले जी ने उत्तर दिया कि ये सभी प्रश्न मैंने नहीं निकाले। इनमे से एक प्रश्न एक दूसरे व्यक्ति की सहायता से निकाला है और इस प्रकार आपको धोखा दिया है, अत मैं दण्ड का भागी हूँ पुरस्कार का नहीं।

अध्यापक गोखले की सत्य-प्रियता से बहुत प्रभावित हुए और

उन्होंने कहा— अच्छा! अब यह पुरस्कार मैं तुम्हें तुम्हारी सत्यप्रियता के लिए दे रहा हूँ।

[४]

सत्य संकल्प या मानसिक सत्य

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वाणी बोलते समय मनुष्य के मन में जैसा ज्ञान हो उसे निष्कपट भाव से ठीक ठीक वैसा ही दूसरों के सामने प्रकट करने का मानसिक संकल्प भी होना चाहिये— तभी वह सत्य होगी अन्यथा नहीं। मन में लुकाव-छिपाव होने पर वह असत्य हो जायगी। इस मानसिक सत्य का प्रत्यक्ष उदाहरण भीष्म पितामह हैं।

भीष्म

भीष्म के द्वारा अपनी सेना का भीषण संहार होते देखकर युधिष्ठिर श्रीकृष्ण और अर्जुन आदि अपने भाइयों को साथ लेकर भीष्म पितामह के पास पहुंचे। उन्होंने उनसे कहा कि हे पितामह! युद्ध के समय आप दण्डधारी यम के समान दिखाई देते हो। किस समय आप तरकश से तीर निकालते हो, कब धनुष पर चढ़ाते हो और कब उसे छोड़ते हो यह लेशमात्र भी पता नहीं चलता। आपके द्वारा हमारी सेना का जो संहार हो रहा है उससे हमारी विजय की आशा नहीं है। वज्रधारी इन्द्र, वरुण और यम को जीतना तो संभव प्रतीत होता है, किन्तु आप को तो इनके साथ देवता और असुर भी पराजित नहीं कर सकते। अतः जिस उपाय से आप पर विजय प्राप्त हो सके वह हमें बतलाइये।

यह सुनकर भीष्म पितामह ने उत्तर दिया कि हे महाबाहो!

तुमने जैसा कहा है यह सत्य ही है। जब मैं हाथ में शस्त्र लेकर युद्ध में खड़ा होता हूं तो इन्द्र के साथ देवता और असुर भी मुझे नहीं जीत सकते। मेरे शस्त्र का परित्याग कर देने पर ही तुम मुझे घायल कर सकते हो। युधिष्ठिर ने पूछा कि आपके शस्त्र का परित्याग कैसे हो वही उपाय हमें बतलाइये। यह सुनकर भीष्म ने उत्तर दिया कि शस्त्र त्यागी, शस्त्रों से घायल होकर पृथ्वी पर गिरे हुए, कवचहीन, ध्वजारहित, भागते हुए, 'मैं तुम्हारा हूं' ऐसा कह कर शरण में आये हुए पुरुष,-स्त्री जाति, स्त्रीनामधारी पुरुष, अंग कटे हुए मनुष्य, एक पुत्र वाले, संतान रहित और पापी मनुष्य के साथ युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता। हे राजन्! मेरा पहले से यह निश्चय है कि जिसकी ध्वजा अमांगलिक होगी उसके साथ मैं युद्ध नहीं करूंगा। द्रुपदराजा का पुत्र शिखंडी जो तुम्हारी सेना में है यह पहले कन्या था पीछे से पुरुष हो गया है। उस शिखंडी के रथ की ध्वजा अमांगलिक है। वह स्त्री होकर फिर पुरुष हो गया है इसलिये मैं उस पर प्रहार नहीं करूंगा। हे युधिष्ठिर पाण्डुपुत्र अर्जुन उस शिखंडी के पीछे खड़े होकर चारों ओर से शीघ्रतापूर्वक अपने बाणों से मेरे ऊपर प्रहार करें, तभी तुम मेरा वध कर सकते हो और मेरा वध होने पर ही तुम्हारी विजय हो सकती है।

यह सुन कर युधिष्ठिर आदि पाण्डव प्रसन्न होकर अपने शिविर चले आये। उन्होंने अगले दिन शिखण्डी को भीष्म के सम्मुख खड़ा किया। भीष्म ने उसे अपने सम्मुख खड़ा देखकर शस्त्र का त्याग कर दिया और फिर शिखण्डी के पीछे खड़े होकर अर्जुन अपने बाणों से उन्हें घायल किया।

भीष्म को अपनी मृत्यु का उपाय जिस रूप में ज्ञात था उन्होंने

सच्चे मन से, निष्कपट भाव से ठीक-ठीक वैसा ही युधिष्ठिर बतला दिया। अतः यह उनकी मानसिक सत्यता थी।

[६]

सत्यकर्म, सत्याचरण या सत्यनिष्ठा

जैसा मनुष्य का ज्ञान हो और जैसी वह वाणी बोलता ठीक-ठीक तदनुसार कर्म करना सत्यकर्म या सत्याचरण या स निष्ठा कहलाता है।

अश्विनीकुमार दत्त

श्री अश्विनीकुमार दत्त जब स्कूल में पढ़ा करते थे तो कलक विश्व-विद्यालय का यह नियम था कि सोलह वर्ष से कम आयु विद्यार्थी हाई स्कूल की परीक्षा में नहीं बैठ सकते थे। इस परी के समय अश्विनीकुमार दत्त की आयु केवल चौदह वर्ष की थ दूसरे विद्यार्थियों का अनुकरण करते हुए उन्होंने अपनी आयु सो वर्ष की लिखा ली और परीक्षा में बैठ कर उत्तीर्ण हो गये।

इसके अनन्तर एफ० ए० प्रथम वर्ष की परीक्षा उत्तीर्ण की। उस समय उन्हें अपने आचरण में असत्यता का उमह भान हुआ। उन्होंने अपने कालिज के प्रिंसिपल से सब बातें प्र करके इस दोष को सुधारने की प्रार्थना क । प्रिंसिपल ने उन सत्यनिष्ठा की प्रशंसा की, किन्तु उसे सुधारने में असमर्थ बतलाई। अश्विनीकुमार विश्व-विद्यालय के रजिस्ट्रार से मिं वहाँ भी यही उत्तर मिला। अश्विनी बाबू ने दो वर्ष पढ़ाई करके इस असत्य का प्रायश्चित्त किया। जिसे वे सत्य समझ उसे अपने आचरण में ले आये।

शंकराचार्य

शंकराचार्य भारत की धार्मिक और दार्शनिक परम्परा मे एक दिव्य विभूति हो गये हैं। उनका आविर्भाव-काल ईसवीय सातवीं शताब्दी का अन्त और आठवीं का प्रारंभ माना जाता है। कुछ विद्वान् उनका समय ई० ७८८ से ८२० मानते हैं। उस समय वैदिक धर्म का ह्रास हो रहा था और अनेक अवैदिक संप्रदाय प्रबल हो रहे थे। शंकराचार्य ने अपने गंभीर पाण्डित्य, तीक्ष्ण प्रतिभा और आत्मिक शक्ति के बल से अपने समय मे प्रचलित समस्त अवैदिक मतों का खण्डन करके वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया। वैदिक धर्मानुयायी दार्शनिकों मे भी द्वैत अद्वैत का झगड़ा चला करता था और उनकी बुद्धि किसी भी एक मत को स्थिर न कर सकी थी। शंकराचार्य ने सुललित संस्कृत मे उपनिषद्, गीता और ब्रह्म-सूत्रों के भाष्य लिखकर और इनका प्रचार करके समस्त द्वैतवादी सिद्धान्तों का खण्डन किया और अद्वैतवाद को एक ऐसे शिखर पर आरूढ़ कर दिया कि जिसे भारत के मनीषी दार्शनिकों मे से अधिकांश ने अंगीकार कर लिया।

जैसी शंकराचार्य की प्रतिभा विलक्षण थी ऐसा ही इनका जीवन भी अद्भुत घटनाओं से भरा पड़ा है जो सत्य से ओत-प्रोत है। शंकराचार्य के समय मे एक कापालिक मत बहुत प्रभावशाली था। यह एक उग्र तान्त्रिक शैव संप्रदाय था जिसके अनुयायी शंकर के उग्र महाभैरव की उपासना किया करते थे। वे मनुष्यों की हड्डियों की माला पहनते थे, श्मशान मे रहते थे और मनुष्य की खोपड़ी में भोजन किया करते थे। इनकी पूजा मे मद्य-मांस आदि का

पर्याप्त उपयोग होता था। ये जीवित मनुष्य को मारकर उसके मांस की अग्नि में आहुति देते थे और ब्राह्मण के कपाल में शराब पीकर अपने व्रत की पारणा किया करते थे।

शंकराचार्य को अपने वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार करते समय इस कापालिक मत से भी लोहा लेना पड़ा। अतः वे अपने प्रबल तर्कों से इसका खण्डन किया करते थे। उनके प्रबल तर्कों से अपने मत की पराजय होते देखकर कापालिकों के नेता ने, जिसका नाम उग्रभैरव था, शंकराचार्य की हत्या करने का निश्चय किया। वह चालाकी से पहले उनका शिष्य बन गया और फिर प्रिय-पात्र, विश्वास-पात्र। एक दिन अवसर पाकर उसने शंकराचार्य को एकांत में बैठा देखकर उनसे अपना अभिप्राय कहा कि भगवन्! मुझे एक अलौकिक सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी राजा या ब्रह्मज्ञानी का सिर चाहिये। पहला तो मुझे मिल नहीं सकता। यदि आप कृपा करें तो दूसरा मिल सकता है। दूसरों के हित के लिए आपका जीवन है। अतः आप यदि अपना सिर दे दें तो मेरा यह कार्य सिद्ध हो सकता है।

शंकराचार्य ने गूढ़ अभिप्राय से भरे उसके इस वचन को सुना। वे कठोर तार्किक होते हुए भी कुछ बातों में बालक के समान सरल-हृदय थे। न्यूटन जैसे विश्वविख्यात वैज्ञानिक को भी यह पता नहीं था कि एक बड़े छिद्र में छोटी और बड़ी दो बिल्लियां कैसे निकल सकती हैं। वे दो बिल्लियों के लिये दरवाजे में दो छिद्र बनवाना चाहते थे। एक साधारण बढ़ई ने एक छिद्र में दोनों को निकाल कर दिखलाया तब उन्हें विश्वास हुआ था।

शंकराचार्य ने उसके प्रस्ताव को अनुमति दे दी और साथ ही उसे यह युक्ति भी बतला दी कि जिससे उसका यह कार्य पूरा हो सके। उन्होंने उससे कहा कि कल जब मैं अकेला बैठा हूँ, तब चुपके से आकर मेरा सिर उतार लेना। परन्तु इस विषय की चर्चा किसी से न करना। यदि मेरे दूसरे शिष्यों को इसका पता चल जायगा तो वे तुम्हारे इस कार्य को पूरा न होने देंगे। दूसरे दिन वह कापालिक हाथ में त्रिशूल लेकर, माथे में त्रिपुण्ड धारण कर, हड्डियों की माला को गले में पहन कर, शराब के नशे में लाल लाल आंखें किये हुए शंकराचार्य के निवास स्थान पर आया। उस समय विद्यार्थी दूर चले गये थे और शंकराचार्य अकेले बैठे थे। उन्होंने भैरवाकार कापालिक को देखकर शरीर छोड़ने का निश्चय कर लिया। उन्होने प्रणव का जप करते हुए अपने चित्त को निर्विकल्प समाधि मे स्थित कर लिया। कापालिक ने अपनी दुरभिसन्धि को पूरा करने के उद्देश्य से शंकराचार्य का सिर काटने के लिए तलवार को उठाया। परन्तु सत्य मे तो स्वयं भगवान् का बल रहता है जो उसकी रक्षा किया करता है। भगवान् की प्रेरणा से अकस्मात् उस ही समय शंकराचार्य के प्रसिद्ध शिष्य पद्मपाद, जिन्हें कापालिक की दुरभिसन्धि का कुछ कुछ आभास हो गया था और जो इसे सन्देह की दृष्टि से देखा करते थे, वहां उपस्थित हो गये। उन्होंने उसके त्रिशूल को छीन कर उससे उसका अन्त कर दिया। उग्रभैरव के मारे जाने पर कापालिक मत नष्ट हो गया और वैदिक धर्म का प्रचार तीव्र वेग से बढ़ने लगा।

इस अवसर पर यदि शंकराचार्य उग्रभैरव को सिर देने से मना कर देते तो यह उनका लेशमात्र भी असत्याचरण न होता।

असत्याचरण तब होता जबकि वे उग्रभैरव को सिर देने का वचन देकर उससे छिपाकर अपने शिष्यों को इसकी सूचना दे देते। परन्तु उनके सम्बध में लिखे ग्रन्थों* से पता चलता है कि उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने तो निष्कपट भाव से जैसा उनके मन में था वैसा ही उग्रभैरव को कह दिया और वैसा ही आचरण किया।

सच्चे हृदय से सत्य का पालन करने वालों के जीवन की रक्षा के लिए पद्मपाद का वहाँ अचानक आ जाना जैसी घटनायें भगवान् अपने विधान में आवश्यकतानुसार स्वयं निर्मित किया करते हैं।

रामकृष्ण परमहंस

सत्य रामकृष्ण परमहंस के स्वभाव और आचरण में भली भांति ओतप्रोत था। जब कभी वे यह कह देते थे कि 'अमुक स्थान पर जाऊँगा' तो यथाशक्ति वहाँ जाते ही थे, 'अमुक कार्य करूंगा' यह कहने पर उस कार्य को कर ही डालते। वे हंसी दिल्लगी में भी कभी असत्य भाषण नहीं करते थे और न किसी दूसरे से सहन ही करते थे। कोई व्यक्ति किसी कार्य को करने के लिए कहे और फिर उसे न करे तो इसे वे सहन नहीं करते थे। इस विषय में एक बार उन्होंने कहा था कि "सत्य भाषण ही कलियुग की तपस्या है। सत्यनिष्ठा के बल से भगवान् को प्राप्त कर सकते हैं। सत्य-निष्ठा न हो तो मनुष्य का धीरे धीरे सर्वनाश हो जाय"।

वे सदा कहा करते थे कि "बारह वर्ष तक यदि मन, वचन,

---

* माधव कृत शंकरदिग्विजय। सर्ग ११
सदानन्द-कृत शंकरविजय सार। सर्ग १०

काय से सत्य का पालन किया जाय तो मनुष्य सत्यसंकल्प हो जाता है। उसके शब्द को भगवती माता कभी मिथ्या नहीं होने देती"।

एक दिन अपनी भक्त मंडली में बातें करते हुए वे कहने लगे—"सत्य सत्य करते हुए यह कैसी अवस्था हो गई सो तो देखो। एक आध बार यदि सहज ही कह दिया कि आज भोजन नहीं करता, तो फिर भूख लगने पर भी खाते नहीं बनता। किसी को कोई कार्य बतलाने पर वही उसे करे। यदि कोई दूसरा कहे कि मैं करूंगा तो यह ठीक नहीं होता। यह कैसी अवस्था हो गई मेरी? इसका कोई उपाय है क्या ?"

एक दिन झाऊतला की ओर लोटा लेकर चलने के लिए मैंने एक व्यक्ति से कहा। उसने अच्छा तो कह दिया पर उस समय वह किसी दूसरे कार्य से वहाँ से चला गया। उसके बजाय कोई दूसरा व्यक्ति लोटा लेकर वहाँ आया। शौच से लौट कर देखता हूँ कोई दूसरा व्यक्ति लोटा लिए खड़ा है। उसके हाथ से मुझे पानी लेते नहीं बना। हाथ में केवल मिट्टी लगा कर पहले मनुष्य के आने तक वैसा ही खड़ा रहा। क्या किया जाय? माता के पादपद्म में फूल चढ़ाते समय जब मैं सभी बातों का त्याग करने लगा तो उस समय बोला— "माता यह ले अपनी शुचि-अशुचि, यह ले अपना धर्म-अधर्म, यह ले अपना पाप-पुण्य, यह ले अपना भला-बुरा। परन्तु उस समय यह न कह सका कि यह ले अपना सत्य-असत्य। सत्य का त्याग कैसे करूं"?

इस सत्य पालन के कारण उनके मुख से निकलने वाली बातें प्रायः सत्य ही होती थीं। काशीपुर के बगीचे में गले के रोग से बीमार रहते समय एक बार वे अपने पास के लोगों से बोले—"क्या

इस समय यहाँ एकाध आवला मिलेगा ? मुँह में स्वाद नाम को नहीं है। यदि एकाध आवला मिले तो बड़ा अच्छा हो"। वह ऋतु आवले की नहीं थी, इसलिए इस समय आवला नहीं मिल सकता यह सोचकर सब लोग निराश होकर चुप बैठ गये। उनमें से श्री दुर्गाचरण नाग से चुप नहीं बैठा गया। उन्होंने सोचा कि जब रामकृष्ण को आवला खाने की इच्छा हुई है तो यह कहीं न कहीं अवश्य मिलेगा। यह निश्चय करके वे तुरन्त उठे और आसपास के बगीचों में ढूढ़ना प्रारंभ कर दिया। लगातार दो दिन भटकने के बाद तीसरे दिन एक बगीचे में एक पेड़ पर दो तीन आवले दिखाई दिये। उन्हें वे तोड़ कर लाये और उस ही समय काशीपुर जाकर श्री रामकृष्ण को दे दिये।

एक दिन भक्तगणों से बातचीत करते समय श्री रामकृष्ण बीच ही में कहने लगे—"मेरी इच्छा इसी समय हींग आदि डली हुई गरम-गरम कचौरी खाने की हो रही है"। यह सुनकर एक मनुष्य बोला—"अच्छा ! मैं अभी कलकत्ता जाकर ताजी कचौरी बनवा कर ले आता हूँ"। श्री रामकृष्ण बोले—"नहीं, कचौरी के लिए ही इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं और इसके अतिरिक्त इतनी दूर आने तक वह गरम भी कैसे रहेगी" ? इस तरह बातें हो ही रही थीं कि कलकत्ते से एक मनुष्य वैसी ही गरमागरम कचौरी उनको देने के लिये यहां आ पहुचा।

एक दिन राखाल दक्षिणेश्वर आये हुए थे। श्री रामकृष्ण उनके साथ बहुत समय तक बातें करते रहे। राखाल ने कुछ खाया नहीं था इसलिए वे भूख से व्याकुल हो रहे थे। खाने के लिए देने योग्य कोई भी चीज पास में नहीं है यह देखकर श्री रामकृष्ण

जल्दी से उठे और घाट पर जाकर जोर जोर से यह कहते हुए चिल्लाने लगे— "गौरदासी* मेरे राखाल को भूख लगी है। कुछ खाने के लिए लेकर जल्दी आ"। थोडी ही देर में कलकत्ते की ओर से एक नौका आकर घाट पर लगी और उसमें से बलराम बसु और गौरदासी दोनों नीचे उतरे। गौरदासी रामकृष्ण को देने के लिए एक डब्बे में भर कर रसगुल्ले लाई थी। उन्हे देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और लेजाकर राखाल को दे दिये।

ऐसा कहा जाता है कि सत्य न केवल रामकृष्ण परमहंस के मन और वाणी में अपितु शरीर के रोम रोम में व्याप्त था। एक बार रामकृष्ण शम्भुचन्द्र माली के बगीचे में गए थे। उस समय उनके पेट में दर्द का रोग था। शम्भुचन्द्र वैद्य भी थे। उन्होंने उनसे कहा कि "मैं आपको एक दो गोली अफीम की दे दूंगा। आप उन्हे वापिस जाने के बाद खाइये, आपके पेट का दर्द बन्द हो जायगा"। श्री रामकृष्ण ने यह बात स्वीकार करली परन्तु बातों में वे दोनों ही उसे भूल गये और बातें समाप्त होने पर रामकृष्ण चल दिये। परन्तु कुछ दूर चलने पर उन्हें गोलियों की याद आई। तभी वे वापस लौट आये। परन्तु लौट कर देखा तो वहाँ शम्भुचन्द्र नहीं थे। तब इन्होंने कम्पाउंडर से अफीम की दो गोलियाँ लेलीं और वापस लौटने लगे। परन्तु कुछ दूर आने पर उनसे चला ही न गया। पैर रास्ते में न पड़कर नाली की ओर खिंचने लगे। 'ऐसा क्यों होता है? कहीं मार्ग तो नहीं भूल गया'? ऐसा सन्देह होने लगा। तब वे पीछे की ओर देखने लगे तो पिछला मार्ग बिल्कुल

*रामकृष्ण की एक भक्त दासी

स्पष्ट दीखता था। संभवतः मार्ग भूल गया हूँगा यह सोचकर वे फिर शम्भुचन्द्र के फाटक के पास आये और वहाँ से अपने मार्ग को ठीक ठीक देखकर फिर जाने लगे। पर फिर भी वही हाल हुआ। उनके पैर ठीक रास्ते पर चल ही नहीं पाते थे। ऐसा दो तीन बार हो जाने पर वे निराश होकर मार्ग में ही बैठ गये। तब अचानक यह बात उनके मन में आई कि—"अरे हाँ शम्भु ने ही तो कहा था कि मेरे पास से गोलियाँ लेते जाना, पर वैसा न करके उसे बिना बताये ही मैं उसके कम्पाउंडर से गोलियाँ ले जा रहा हूँ। शम्भु से बिना पूछे गोलियाँ दे देना कम्पाउंडर के लिए उचित नहीं था और जब उसने यह कह दिया कि मेरे पास से ले जाना तो फिर दूसरे के पास से ले जाना मुझे भी उचित नहीं था। इस प्रकार गोली ले जाने में तो असत्य-भाषण और चोरी दोनों ही दोष हैं।" यह बात मन में आते ही वे तुरन्त दवाखाने में गये। वहाँ कम्पाउंडर नहीं था, इसलिए उन्होंने दरवाजे में से ही उन गोलियों की पुड़ियाओं को भीतर डालकर 'ये तुम्हारी गोलियाँ भीतर डाल दी हैं'— इस प्रकार जोर से कहकर लौटे। इस बार उनके पैर ठीक पड़े और मार्ग भी ठीक दिखाई देता था*।

इस प्रकार सत्यनिष्ठा उनके प्रत्येक कार्य में, शरीर के रोम रोम में व्याप्त बतलाई जाती है। श्री अरविन्द के दृष्टिकोण से जब सत्य पूरी तरह शरीर के अणु अणु में व्याप्त हो जायगा तो उसमें रोग और मृत्यु नहीं रह सकते। रोग और मृत्यु शरीर के कोषाणुओं में विद्यमान असत्य, अन्धकार के ही परिणाम हैं।

---

*रामकृष्ण लीलामृत

तीसरी प्रभा

सत्य-प्राप्ति के साधन

गत प्रकरणों मे हमने सत्य के स्वरूप की विवेचना की है। हम यह दिखला चुके हैं कि सत्य दो प्रकार का होता है— परम और व्यावहारिक। परम सत्य केवल सच्चिदानन्द-स्वरूप परब्रह्म है। इस सत्य की प्राप्ति का साधन व्यावहारिक सत्य होता है। व्यावहारिक सत्य का अर्थ है मन, वचन और कर्म की यथार्थता या एकता। अब हमारे सामने यह प्रश्न है कि इस सत्य को कैसे प्राप्त किया जाय ? किन साधनों के अनुष्ठान से मनुष्य अपने मन, वचन और कर्म मे सच्चा हो सकता है, सत्य को अपने आचरण में ला सकता है ?

[१]

अभीप्सा

सच्चा बनने के लिये सबसे पहली आवश्यकता है अभीप्सा की। जब तक मनुष्य के भीतर स्वयं ही सच्चा बनने की अभीप्सा जागृत न हो तब तक वह किसी भी साधन का अनुष्ठान नहीं कर सकता। उसकी दशा तो ऐसी है जैसे कोई सूर्य के प्रकाश के सामने आँखें मींच लेता है और उसे देखना ही नहीं चाहता, अथवा जैसे कोई दीपक के जला दिये जाने पर उसे स्वयं बुझा देता है। अतः जिस मनुष्य के भीतर सच्चा बनने की अभीप्सा जागृत हो गई है वही सत्य-प्राप्ति के साधनों का अनुष्ठान कर सकता है।

सच्चा बनने की यह अभीप्सा अनेक जन्मों तक असत्य-व्यवहार के दुष्परिणामों और सत्य-व्यवहार के सुपरिणामों का निरीक्षण करते रहने पर, अपने स्वाभाविक विकास-क्रम में स्वयं ही जागृत होती है। उदाहरण-स्वरूप मानलो किसी व्यक्ति को गाजा, तम्बाकू, सिगरेट आदि मादक वस्तुएं सेवन करने का दुर्व्यसन है और इसके परिणामस्वरूप उसे खासी, दमा या क्षय का रोग हो जाता है तो वह अपने आपको मृत्यु के मुख में आया हुआ अनुभव करता है और उस व्यसन को छोडने की इच्छा करने लगता है। जिस व्यक्ति को अधिक खाने का व्यसन है वह संग्रहणी, अतिसार, गुल्म, बवासीर, यकृत, प्लीहा आदि रोगों से आक्रान्त हो जाने पर जब पीडा का अनुभव करता है तभी अपने दोषों को छोडने की इच्छा करता है। लोभ, क्रोध, झूठ, चोरी, अपहरण, व्यभिचार आदि के परिणाम भी अनेक बार विनाशकारी रूप में मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं और उसमें सच्चा, अच्छा बनने की इच्छा उत्पन्न करते हैं। दूसरे मनुष्यों के कर्मों के परिणामों को देखकर भी मनुष्य शिक्षा ग्रहण किया करता है। हिरण्यकश्यपु, रावण, कंस, जरासंध, दुर्योधन, हिटलर आदि के उदाहरण आज भी मानव जाति को असत्य के परित्याग और सत्य के ग्रहण की शिक्षा प्रदान करते हैं। सच्चे, श्रेष्ठ महात्माओं के संसर्ग, उपदेश और उत्तम उत्तम शास्त्रों के अध्ययन से भी इस अभीप्सा के जागृत होने में सहायता मिलती है।

जिस मनुष्य में सच्चा बनने की अभीप्सा एक बार जागृत हो गई है उसका कर्त्तव्य है कि वह सच्चे, श्रेष्ठ महात्माओं के संसर्ग

से, उत्तम-उत्तम ग्रन्थो के श्रवण और मनन से उसे सतत बनाये रखने और तीव्र करने का प्रयास करता रहे।

[२]
आत्म-निरीक्षण

प्रत्यह प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मन ।
किं नु मे पशुभिस्तुल्य किं नु सत्पुरुषैरिति ॥

"मनुष्य को चाहिये कि वह प्रतिदिन अपने चरित्र का निरीक्षण करता हुआ सोचे कि मेरे व्यवहार मे कौनसा कर्म पशु जैसा हुआ है और कौनसा सत्पुरुषा जैसा"।

जिस मनुष्य मे सच्चा बनने की अभीप्सा जागृत हो गई है उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने मन, वाणी और शरीर के प्रत्येक व्यापार का प्रतिक्षण निरीक्षण करता हुआ यह विवेक करता रहे कि उसके द्वारा कौन से कर्म सच्चे और कौन से मिथ्या होते हैं, दूसरे शब्दों मे कौन से वे कर्म होते हैं जिन्हे श्रेष्ठ पुरुष अच्छा कहते हैं— जैसे सत्य भाषण, सत्य सकल्प, सयम, दान, त्याग, परोपकार, स्वाध्याय, भक्ति आदि और कौन से वे जिन्हे श्रेष्ठ पुरुष निन्दनीय समझते हैं—जैसे भोगविलास, झूठ, चोरी, लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, हिंसा, दभ, अहकार आदि। ऐसा निरीक्षण करते रहने पर मनुष्य के मन के दो भाग हो जाते हैं जिनमे एक भाग वह होता है जो काम, क्रोध, लोभ आदि प्राकृतिक अन्तर्वेगो के प्रवाह के साथ बहता हुआ जान पडता है और दूसरा एक चौकीदार के समान जो उसे देखकर इन कर्मों से रोकता सा है। इस प्रकार प्रतिक्षण अपने कर्मों का निरीक्षण करता हुआ मनुष्य रात्रि मे सोते समय अपने

दिन भर के कार्यों पर दृष्टिपात करे और उनमें से जो विचार, वचन या कर्म, झूठे, निकृष्टकोटि के हों उन्हें त्यागने की इच्छा करे। प्रातःकाल सोकर उठते ही अपने पहले दिन के अनुभव को याद करे और पहली रात्रि में की हुई असत्य परित्याग की इच्छा को दिन भर कार्यान्वित करते रहने का निश्चय करे। अच्छा यह हो कि सत्य का अभीप्सु अपने लिए एक दैनंदिनी बनाले और उसमें अपने दोषों को लिखता रहे और प्रतिदिन उन्हें कम करते रहने का प्रयास करता रहे।

परन्तु ऐसा करते समय मनुष्य को अपने दोषों को देखकर हतोत्साह नहीं होना चाहिये। कारण कोई भी मनुष्य प्रारम्भ में सत्य को पूरी तरह अपने आचरण में नहीं ला सकता। इसे तो दीर्घकाल तक, निरन्तर सत्कार के साथ, धैर्य रखते हुए धीरे-धीरे अभ्यास से प्राप्त किया जाता है (स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढभूमि)। यदि मनुष्य थोडा-थोडा भी प्रतिदिन असत्य का परित्याग करता जाय और सत्य को अपनाता जाय तो कभी न कभी वह लक्ष्य पर अवश्य पहुँचेगा, क्योंकि वह सच्चे मार्ग पर चल रहा है। अत एक अनुभवी विद्वान् ने कहा है -

अनुगन्तु सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति॥

"यदि मनुष्य सच्चे महात्माओं के मार्ग में पूरी तरह नहीं चल सकता तो थोडा ही चले, क्योंकि जब उस मार्ग में स्थित होकर चलने लगता है तो फिर विपत्ति को प्राप्त नहीं होता।" जब मनुष्य अपने व्यवहार का निरीक्षण करता हुआ सत्य और असत्य का

विवेक करता है और अपनी इच्छा का प्रयोग असत्य के परित्याग और सत्य के ग्रहण में करता है तो उसके इस विवेक और इच्छा के बल से उसकी प्रकृति परिवर्तित होने लगती है और उसकी इच्छा का अनुसरण करने लगती है और उपयुक्त समय आने पर इसमें अभीष्ट सफलता अवश्य मिलती है। परन्तु इस मन्द अभ्यास के जारी रखते हुए मनुष्य को अपनी दृष्टि सदा इस भाव पर रखनी चाहिये कि जैसे ही उसे अपने भीतर किसी असत्य का पता चले तो तुरन्त उसका परित्याग कर दे और सत्य का प्रकाश मिले तो तुरन्त उसे पकड़ ले। मनुष्य को सदा यह सोचना चाहिये कि असत्य के परित्याग और सत्य के ग्रहण में जितनी विलम्ब होती है उतना ही वह अपने विकास की नीची श्रेणी पर है और जितनी शीघ्रता से वह होता है उतना ही वह ऊँची भूमिका पर है। साधारण मनुष्य में और महापुरुष में यही अन्तर होता है कि पहला असत्य और सत्य को जानता हुआ भी उनके परित्याग और ग्रहण में विलम्ब करता है और दूसरा उन्हें तुरन्त कर डालता है।

[२]

सत्यान्वेषण

ऋतस्य हि शुरुध सन्ति पूर्वी । ऋ० ३।६।१०॥
सत्य के रूप बहुत हैं।

सत्य को प्राप्त करने के लिए, अपने आचरण में लाने के लिए आत्म निरीक्षण के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि मनुष्य सच्चे हृदय से सत्य का अन्वेषण करने का अपना स्वभाव बना ले।

साधारणतया प्रत्येक मनुष्य को अपने भीतर सत्य और

असत्य का कुछ न कुछ ज्ञान तो अवश्य होता ही है। परन्तु यह ज्ञान सत्य के केवल स्थूल रूपों का, स्वल्प अंश का, निम्न अंश का ही होता है। जब मनुष्य इस सत्य को अपने आचरण में लाने लगता है तो उसे सत्य के सूक्ष्मतर, विशालतर, उच्चतर स्वरूप का प्रकाश होने लगता है। यदि मनुष्य इस नवीन प्रकाशित सत्य को अपनाता जाता है तो उसे अधिकाधिक सूक्ष्मतर, विशालतर, उच्चतर सत्य का प्रकाश मिलता जाता है। ऐसी अवस्था में पहले युगों का सत्य आज के युग में असत्य जान पड़ सकता है और आज जिसे हम सत्य समझते हैं वह भावी युगों में असत्य अथवा निकृष्ट कोटि का सत्य दिखाई दे सकता है। यदि मनुष्य की बुद्धि में तमोगुण होता है और वह किसी एक सत्य को पूर्ण सत्य या अन्तिम सत्य मानकर उसे चिपटाये रखता है तो वह आने वाले सत्य के प्रकाश की ओर से आखें मींच लेता है और उसकी आखें तभी खुलती हैं जबकि उसके अज्ञानान्धकार के परिणाम उसके लिए बहुत ही विनाशकारी होकर उसे टक्कर देते हैं और असत्य को परित्याग करने के लिए विवश कर देते हैं।

एक समय था जबकि यूरोप में कुत्ते, बिल्ली, भेड़, बकरी के समान मनुष्य का बेचना, मोल लेना और उसे जीवन भर अपना दास बनाये रखना न्यायसगत और इसलिए सत्य माना जाता था, आज के युग में वह अन्याय, असत्याचरण और दण्डनीय अपराध हो गया है। एक समय था जबकि भारतवर्ष में सात-आठ वर्ष के बालक बालिकाओं का विवाह धर्म-संगत माना जाता था परन्तु आज वह अधर्म और असत्याचरण और इसलिए दण्डनीय अपराध माना जाने लगा है। कभी मनुष्य-विशेष को छूने में

उच्चवर्ण कहलाने वाले अपने आपको अपवित्र मानते थे, आज वही उन्हें छूने में अपने पूर्वजों के पापों का प्रायश्चित्त मानकर अपने आपको पवित्र हुआ मानने लगे हैं और अछूतपन की भावना का मन में रखना एक दण्डनीय अपराध हो गया है। कभी एक देश का दूसरे देश पर शासन करना न्याय-संगत था आज वह अन्तर्राष्ट्रीय विधान से अन्याय और अपराध हो गया है। कभी यूरोप वाले दूसरे देशों के उद्योग धन्धों को नष्ट-भ्रष्ट करके, अपने शिल्प और व्यापार की उन्नति करके दूसरों के धन को लूटते थे और ऐसा करना अपना न्याय-संगत अधिकार मानते थे। वही गत दो युद्धों के विनाशकारी परिणामों से शिक्षा ग्रहण करके उन देशों के शिल्प आदि की उन्नति के लिए धन और विशेषज्ञ भेजकर सहायता करने के लिए विवश हुए हैं।

जब मनुष्य सच्चे हृदय से सत्यान्वेषी नहीं होता तो वह अपने किसी एक विचार को जिसमें सत्य का केवल एक अंश-मात्र होता है पूर्ण सत्य मानकर उस पर हठ करने लगता है और दूसरों से उसे मनवाने का प्रयत्न करता है। उसकी इस प्रकार की चेष्टा को देखकर दूसरे मनुष्य भी अपने-अपने विचारों का हठ करने लगते हैं और उसके प्रयत्न का विरोध करते हैं। इससे मानव समाज में भीषण विप्लव और संग्राम होते हैं और मानव जाति को भारी विपत्ति का सामना करना पड़ता है। भारत और यूरोप का इतिहास इस प्रकार की घटनाओं से भरा पड़ा है।

कुछ शताब्दी पूर्व देहली के सिंहासन पर एक बादशाह राज्य करता था। वह अपने धर्म को विश्व का एक-मात्र श्रेष्ठतम धर्म

मानता था और दूसरे सम्पूर्ण धर्मों को निकृष्ट, तुच्छ। अतः उसने दूसरे धर्म के अनुयायी लाखों मनुष्यों से बलपूर्वक अपने धर्म को मनवाया। जिन्होंने उसे नहीं अपनाया था तो उसने उनका वध करा दिया अथवा उन्हें भांति भांति के कष्ट पहुंचाये। उसके इस दुष्कृत्य का परिणाम यह हुआ कि वह स्वयं युद्ध में मारा गया और शताब्दियों से प्रतिष्ठित उसका राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया और साथ ही देश में भारी अव्यवस्था हो गई जिससे समस्त देश को भीषण विपत्ति में से होकर बीतना पड़ा।

क्या अच्छा होता यदि वह पहले से ही यह समझ लेता कि सत्य सभी धर्मों में होता है और सच्चे सत्यान्वेषी के समान निष्कपट भाव से दूसरे धर्मों के सत्य को पहचानकर उनसे सत्य ग्रहण करने का प्रयत्न करता। क्या अच्छा होता यदि वह समझ लेता कि धर्म का प्रचार, सत्य का प्रचार जितना दूसरों से प्रेम करने से होता है उतना बल-प्रयोग और हिंसा से नहीं होता। परन्तु वह अंधविश्वासी था, अंधा था, सच्चे हृदय से सत्यान्वेषी नहीं था जिसका यह विनाशकारी परिणाम हुआ।

गत शताब्दी में फ्रांस ने शिल्प में बहुत उन्नति की थी। किन्तु वहां धर्मोन्माद बढ़ गया जिससे वहां के अनेक कुशल शिल्पकार देश छोड़कर इंग्लैंड में जाकर बस गये और इस कारण उसका पतन हुआ और इंग्लैंड को, जहां अपेक्षाकृत उदारता के साथ सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति थी, विजय-श्री प्राप्त हुई।

चार राजकुमार

सत्यान्वेषण के सम्बन्ध में माता जी ने अपनी पुस्तक 'सुन्दर

कहानियों में एक कहानी इस प्रकार लिखी है :

"बनारस के एक राजा के चार पुत्र थे। प्रत्येक ने अपने पिता के सारथि से कहा—"मैं ढाक का पेड़ देखना चाहता हूँ"। सारथि ने उत्तर दिया—"अच्छा दिखलाऊँगा"। एक बार वह सबसे बड़े भाई को अपने साथ घुमाने के लिए ले गया। जंगल में उसने राजकुमार को ढाक का पेड़ दिखलाया। उस समय वह ऋतु थी जबकि उस पर कोंपल, पत्ते और फूल कुछ भी नहीं थे। इस लिए राजकुमार ने एक रूखी-सूखी लकड़ी या ठूठ ही देखा।

उसके कुछ सप्ताह पीछे दूसरा राजकुमार घूमने गया और उसने भी ढाक का वृक्ष देखा और उसे पत्तों से लदा पाया।

उस ही ऋतु में कुछ दिन पीछे तीसरे की बारी आई। उसने देखा कि वह फूलों से लाल हो रहा है।

सब के अन्त में चौथे ने देखा। उसके फल अब पक चुके थे।

एक दिन जब चारों भाई फिर इकट्ठे हुए तो उनमें से एक ने पूछा— "ढाक का वृक्ष कैसा है"?

सब से बड़े ने कहा— "एक नंगे ठूँठ के समान"।

दूसरा बोला— "हरे भरे केले के वृक्ष के समान"।

तीसरे ने उत्तर दिया— "लाल-गुलाबी फूलों के गुलदस्ते के समान"।

और चौथा बोला— "वह तो एक प्रकार का बबूल का वृक्ष प्रतीत होता है जिसमें फल भी हैं"।

जब चारों का मत मिलता दिखाई न दिया तो वे सब मिलकर

निर्णय कराने के लिये अपने पिता के पास गये। जब राजा ने सुना कि किस प्रकार एक के बाद दूसरे ने ढाक का वृक्ष देखा है तो वह हँसा। उसने कहा—

"तुम चारों ठीक कहते हो परन्तु तुम चारों ही यह नहीं जानते कि वृक्ष सब ऋतुओं में एक-सा नहीं रहता।"

प्रत्येक ने वही कहा जो उसने देखा और प्रत्येक ही उससे जो दूसरे जानते थे अनभिज्ञ था।

इस प्रकार मनुष्य प्रायः सत्य का एक छोटा-सा अंश ही जानते हैं और उनकी भूल केवल यही होती है कि वे समझते हैं कि वे उसे पूरा जानते हैं।

यह भूल कितनी कम हो जाती यदि वे बचपन से ही सत्य का अधिकाधिक अन्वेषण करने के लिये उससे उचित प्रेम करना सीख जाते।"

इसलिए मनुष्य को चाहिये कि जिसे वह सत्य समझता है उसका निष्कपट भाव से मन, वचन और कर्म मे पालन करता रहे, उसकी सतत परीक्षा करता रहे और अपने मस्तिष्क को खुला रखते हुए, उच्चतर, पूर्णतर, श्रेष्ठतर सत्य की खोज करता रहे। इस प्रकार जैसे ही उसे नवीन सत्य की झलक मिले तो तुरन्त उसे ग्रहण करके अपने आचरण में ले आये। इस प्रकार मनुष्य का समस्त जीवन ही सत्यान्वेषण और सत्याचरण रूप हो जाना चाहिये। ऐसा होते रहने पर ही मानव समाज निरन्तर विशालतर, श्रेष्ठतर, उच्चतर सत्य और सुख की ओर प्रगति कर सकता है।

[४]
त्याग

तनु तिय तनय धामु धनु धरनी।
सत्य-संध कहुँ तृन सम बरनी॥

रा० अयो० ३४।४॥

सत्य-व्रती के लिए शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन और पृथ्वी तिनके के समान कहे गये हैं।

सत्य को अपने आचरण में लाने के लिए त्याग की आवश्यकता है। जो मनुष्य अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक सुख भोग के लिये धन संग्रह करता है और उसे अपना मानकर उसके साथ आसक्त रहता है और अपने भोग विलास में उसका व्यय करता है वह अहंकार, कामना और इन्द्रियों का दास है। वह धनोपार्जन के लिए ऐसे उद्योग धन्धों को करेगा जिनसे उसे अधिक से अधिक धन मिल सके चाहे वे कितने भी निकृष्ट क्यों न हों, ऐसे धन्धों को नहीं करेगा जो श्रेष्ठ हों किन्तु कम धन देने वाले हों। धन में आसक्त होने के कारण वह छलकपटमय व्यवहार करेगा, सच्चा व्यवहार नहीं करेगा। वह उपार्जित धन का उपयोग अपने सुख भोग में करेगा और देश, समाज और भगवान् की सेवा में धन के उपयोग करने की जो उच्च प्रेरणायें उसके भीतर उठेंगी उन्हें नहीं सुनेगा अथवा सुनने पर भी उसके अहंकार, कामना आदि उन्हें दबा देंगे। उसके जीवन में अहंकार, कामना, दंभ, मिथ्याभिमान, स्वार्थपरायणता, विषय-लोलुपता, मान, पद, प्रतिष्ठा आदि का बोल-वाला रहेगा। यह सब असत्य की लीला है। अतः सत्य को

आचरण में लाने के लिए मनुष्य को चाहिये कि वह अहंकार, कामना, दंभ, मिथ्याभिमान, स्वार्थपरायणता, लोभ, विषय-लोलुपता, धन, मान, पद, प्रतिष्ठा आदि सभी से आसक्ति का परित्याग करदे। यदि किसी मनुष्य के भीतर इनमें से किसी एक का भी, थोडा सा भी अंश है तो जानना चाहिये कि उसके भीतर उतना ही अश असत्य का है। और यह त्याग उद्योग, व्यापार, वकालत आदि जीवन के सभी धन्धों में अभिव्यक्त होना चाहिये।

महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी जब १८९६ में अफ्रीका से भारत लौटने लगे तो उन्हें बहुत सी भेंटे मिलीं जिनमें सोने चाँदी की वस्तुओं के अति रिक्त हीरे की वस्तुएँ भी थीं। उन्हें देखकर गाँधी जी के मन में एक विचित्र सग्राम खडा हुआ। अत वे लिखते हैं, "इन सब वस्तुओं को स्वीकार करने का मुझे क्या अधिकार है? इन्हें स्वीकार करूँ तो 'राष्ट्र की सेवा मैं पैसे लेकर न करता था', यह अपने मन को कैसे समझाऊँ? इन भेंटों में अभियोगार्थियों की थोडी सी वस्तुओं को छोड दें तो शेष तो सब मेरी सेवा के बदले में ही थीं। इसके सिवाय मेरा मन तो अभियोगार्थियों और दूसरे साथियों में कोई भेद न मानता था। बडे-बडे अभियोगार्थी सब सार्वजनिक कार्यों में सहायता दिया करते थे।

इसके सिवाय इन भेंटों में पचास गिन्नियों का एक हार कस्तूरबाई के लिये था। परन्तु उसे मिली वस्तु भी मेरी सेवा के निमित्त से ही थी, इसलिये वह अलग नहीं की जा सकती थी।

जिस सायंकाल को इनमें से मुख्य भेंटें मिली थीं वह रात

मैंने पागल के समान जागकर बिताई। अपने कमरे में चक्कर लगाता रहा, पर गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सैकड़ों की कीमत की सौगात छोड़ना कठिन लग रहा था। रखना उससे भी कठिन लगता था।

मैं कदाचित् भेंटों को पचालू, पर मेरे बच्चों का क्या होगा? स्त्री का क्या होगा? उन्हें तो शिक्षा सेवा की मिली थी। सदा समझाया जाता था कि सेवा के दाम नहीं हुआ करते। घर में मूल्यवान् गहने मैं रखता नहीं था। सादगी बढ़ती जा रही थी। ऐसी स्थिति में सोने की घड़ियां कौन काम में लायगा? सोने की जंजीर और हीरे की अगूठिया कौन पहनेगा? गहने-गांठों का मोह तजने का उपदेश उस समय भी मैं दूसरों को दिया करता था। अब इन गहनों और जवाहरातों का क्या होगा?

मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि मैं इन वस्तुओं को नहीं रख सकता। पारसी रुस्तमजी आदि को इन गहनों का ट्रस्टी बनाकर उनके नाम लिखा देने की योजना बनाई और प्रातःकाल स्त्री, पुत्र आदि से परामर्श करके अपना भार हलका करनेका निश्चय किया।

पत्नी को समझाना कठिन होगा यह मैं जानता था। बच्चों को समझाने में बिल्कुल कठिनाई न होगी इसका मुझे विश्वास था। इस विषय में उन्हें वकील बनाने का विचार किया।

लड़के तो तुरन्त समझ गये। वे बोले, "हमें इन गहनों की आवश्यकता नहीं है। हमें इन सबको लौटा ही देना चाहिये। यदि हमें इन वस्तुओं की आवश्यकता होगी तो हम स्वयं क्या मोल न ले सकेंगे"?

मैं प्रसन्न हुआ, "तो अपनी माँ को समझाओगे न" ? मैंने पूछा।

अवश्य, अवश्य। यह हमारा कार्य रहा। उसे कहाँ ये गहने पहनने हैं ? वह तो हम लोगों के लिये ही इन्हे रखना चाहती है। जब हमें नहीं चाहियें तब वह क्यों हठ करेगी ?

परन्तु कार्य जितना सोचा था उससे अधिक कठिन निकला। "तुम्हे भले ही आवश्यकता न हो, तुम्हारे लडकों को भले ही न हो। लडकों को जिस राह लगाओ लग जाते हैं। भले ही मुझे न पहनने दो, पर मेरी बहुओं का क्या होगा ? उन्हे तो आवश्यकता पडेगी। और कौन जानता है कल क्या होगा ? इतने प्रेम से दी हुई वस्तुएँ लौटाई नहीं जा सकतीं"। इस प्रकार वाग्धारा चली और उसमे अश्रुधारा का भी संगम हुआ। बच्चे डटे रहे, मुझे तो हिलना-डुलना था ही नहीं।

मैंने धीरे से कहा—"लडकों का विवाह होने तो दो। हमें बचपन में उनके विवाह कहाँ रचाने हैं ? बड़े होने पर तो वे स्वयं जो करना चाहेंगे करेंगे। और हमे क्या गहनों की शौकीन बहुएँ खोजनी हैं ? फिर भी कुछ करना ही हुआ तो मैं कहाँ जाता हू"।

"जानती हूँ आपको। मेरे गहने भी ले लिये, वही तो आप हैं न ! मुझे सुख से नहीं पहनने दिये, सो वही अब आप मेरी बहुओं के लिये लाएँगे ? लडकों को अभी से वैरागी बना रहे हैं। ये गहने वापस नहीं दिये जा सकते और मेरे हार पर आपका क्या अधिकार है" ?

मैंने पूछा—"पर यह हार तुम्हारी सेवा के बदले मे मिला है या मेरी सेवा के" ?

"जो हो आपकी सेवा मेरी भी सेवा हुई। मुझसे रात-दिन जो मजदूरी करवाई क्या वह सेवा मे नहीं गिनी जा सकती ? मुझे रुला कर भी जिस तिस को घर मे टिका रक्खा और उनकी चाकरी कराई वह क्या थी" ?

ये सारे बाण तीखे थे। इनमे कितने ही चुभते थे। पर गहने तो मुझे वापस करने ही थे। बहुत बातों मे मैं जैसे-तैसे राजी कर पाया। १८९६ मे मिली हुई और १९०१ मे मिली हुई भेंटे मैंने लौटा दीं। उनका ट्रस्ट बना दिया और उसका लोकहित के लिये उपयोग मेरी इच्छा अथवा ट्रस्टियों की इच्छा के अनुसार किया जाय इस शर्त के साथ वे बैंक मे रख दी गईं। इन गहनों को बेच कर मैं बहुत बार पैसे इकट्ठे कर सका हूँ। यह कोष आज भी आपत्ति-कोष की भांति विद्यमान है और उसमें वृद्धि होती गई है।"

श्री अरविन्द

श्री अरविन्द जब बड़ौदा राज्य मे रहते थे तो इन्हे लगभग ७००) प्रति मास वेतन मिलता था, किन्तु उसका अधिकतर भाग निर्धन विद्यार्थियों को छात्र-वृत्ति देने और दूसरे अनेक प्रकार के राष्ट्रीय कार्यों मे लग जाता था। इनकी स्त्री बहुत ही कम इनके पास रह पाती थी। एक बार उसने २०) मगाये तो श्री अरविन्द केवल १०) ही भेज सके। उसने फिर चिट्ठी लिखी तो इन्होंने उत्तर दिया—"मैंने २०) बीस रुपये की जगह दस रुपया ही पढ़ा था, इसलिये दस रुपया भेजने की ही बात लिखी थी। अगर पन्द्रह रुपयों की

आवश्यकता है तो पन्द्रह रुपया भेजूगा। तुमने जो इधर उधार कर लिया है यह मुझे कैसे पता चलता? पन्द्रह रुपया लगा था सो भेज दिया है; और तीन चार रुपया लगेगा सो आगामी महीने भेज दूँगा। इस बार तुमको बीस ही रुपये भेजूगा।"

"मेरा एक पागलपन है। वह यह है कि मेरा दृढ विश्वास है कि भगवान् ने जो गुण, जो प्रतिभा, जो उच्च शिक्षा और विद्या, जो धन दिया है वह सब भगवान् का है। जो कुछ परिवार के भरण-पोषण में लगता है और जो नितान्त आवश्यक है उसी को अपने लिये व्यय करने का अधिकार है। उसके बाद जो कुछ शेष रह जाता है उसे भगवान् को लौटा देना उचित है। यदि मैं सब कुछ अपने लिये, सुख के लिये, विलास के लिये खर्च करूं तो मैं चोर कहलाऊँगा। हिन्दू शास्त्र कहते हैं कि जो भगवान् से धन लेकर भगवान् को नहीं देता वह चोर है। आजतक मैं भगवान् को दो आना देकर, चौदह आना अपने सुख में व्यय कर हिसाब चुकता कर, सांसारिक सुख में मत्त था। जीवन का अर्धांश व्यर्थ ही गया, पशु भी अपना और अपने परिवार का पेट भर कर कृतार्थ हो जाता है।

"मैं इतने दिनों तक पशु वृत्ति और चौर्य वृत्ति करता आ रहा था— यह मैं समझ गया हूँ। यह जानकर मुझे अनुताप और अपने उपर घृणा हो रही है। अब वह पाप मैंने जन्म भर के लिये छोड़ दिया है। भगवान् को देने का अर्थ क्या है? अर्थ है धर्मकार्य में व्यय करना। जो रुपया सरोजिनी या उषा को दिया है उसके लिये मुझे कोई अनुताप नहीं। परोपकार करना धर्म है, आश्रित की

रक्षा करना महाधर्म है। किन्तु भाई बहन को देने से ही हिसाब नहीं चुक जाता। इस दुर्दिन मे देश मेरे द्वार पर आश्रित है। मेरे तीस करोड भाई-बहन इस देश मे हैं। उनमे से बहुतेरे निराहार मर जाते हैं, अधिकाश ही कष्ट और दुख से जर्जरित होकर किसी प्रकार बचे हुए हैं। उनका हित करना होगा।

"तुम चिरदिन क्या उसी तरह रहोगी? मैं अच्छे कपडे पहनूगी, अच्छा भोजन करूँगी, हँसूँगी, नाचूँगी, सब प्रकार के सुख भोगूँगी—यह जो मन की अवस्था है इसे उन्नति नहीं कहते। आजकल हमारे देश की स्त्रियों के जीवन ने ऐसा ही सकीर्ण और अतिहेय आकार धारण किया है। तुम यह सब छोड दो। केवल सामान्य मनुष्यों की तरह खा-पहन कर ठीक-ठीक जिस वस्तु की आवश्यकता है उसे ही मोल लेकर सब भगवान् को दे दूँगा यही मेरी इच्छा है। यदि तुम भी अपना सहयोग दो, त्याग स्वीकार करो तो मेरी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। मेरे साथ आओ, जगत् में भगवान् का कार्य करने के लिये आये हैं, उसी कार्य को आरंभ करे।"

जिस समय सन् १९०६ मे बगाल मे राजनीतिक आदोलन खडा हुआ तो उन्होंने बडौदा राज्य में नौकरी का त्याग कर दिया और कलकत्ते में जाकर एक राष्ट्रीय विद्यालय की स्थापना की जिस के ये स्वयं प्रिंसिपल बने और जिसमें ये केवल १५०) मासिक लेते थे। कुछ समय पीछे इसका भी त्याग कर दिया और अलीपुर जेल मे रहे। १ वर्ष जेल में रहकर बाहर आये तो थोडे ही समय में सभी कुछ त्याग कर पाडेचेरी मे चले गये और वहाँ सच्चे त्यागी, तपस्वी योगी का जीवन व्यतीत करने लगे। उनके इस त्याग और

तपस्या के परिणामस्वरूप आज पांडेचेरी मे एक बहुत अद्भुत विशाल योगाश्रम है जिसमें लगभग १२०० विश्वभर के स्त्री, पुरुष और बच्चे आध्यात्मिक, नैतिक, बौद्धिक, शारीरिक और प्रायः हर प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करते हैं। विश्वभर की मानवजाति को इनके त्याग और तपस्या से जो अतिमानसिक ज्योति और शक्ति अभी तक सूक्ष्मरूप से मिली है या आगे मिलेगी उसका शब्दों में वर्णन करना कठिन है।

[५]
कष्टसहिष्णुता

सत्य बोलने और सत्य को अपने आचरण मे लाते समय जहां मनुष्य को धन आदि का त्याग करना होता है वहां उसके सामने एक और भी कठिनाई उपस्थित होती है—वह है कष्टों का भय। यदि किसी मनुष्य से कोई भूल हो गई है तो वह उसे यह सोचकर छिपाना चाहता है कि कहीं उसके प्रकट होने पर उसको लोग निन्दा न करें, उसे दण्ड या कष्ट न दें। परन्तु यह मनुष्य की भ्रान्त धारणा है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब कोई मनुष्य अपनी भूल को स्वयं प्रकट कर देता है और भविष्य मे न करने का निश्चय कर लेता है तो उसे प्राय. दण्ड नहीं मिलता अथवा यदि मिलता भी है तो बहुत कम मिलता है, कम से कम उसके छिपाने के प्रयत्न करते रहने पर जब दोष प्रकट हो जाते हैं तो जितना उसे उस समय मिल सकता है उसकी अपेक्षा तो कम ही मिलता है—और मनुष्य चाहे जितना भी छिपकर पाप कर्म क्यों न करे एक न एक दिन वह अवश्य प्रकट हो जाता है। कम से कम सूक्ष्म रूप में

उसका प्रभाव, उसका आभास तो दूसरों पर पड़ता ही है।

किसी उच्च सिद्धांत या आदर्श के लिए जब मनुष्य सत्य बोलना या सत्याचरण करना चाहता है तो उसे प्रायः कष्ट भोगना ही पड़ता है। सत्यव्रती को अपने भीतर यह विश्वास दृढ़ करना चाहिये कि सत्य की सदा विजय होती है। सत्य का उचित पुरस्कार समय आने पर अवश्य मिलता है, यदि इस जन्म में न मिले तो अगले जन्म में मिलता है। अतः सत्यव्रती को अपनी दृष्टि केवल सत्य पर ही रखनी चाहिये और उसके पालन में चाहे जो भी कष्ट क्यों न आयें, चाहे मृत्यु ही क्यों न आये, उन सब को सहर्ष स्वीकार करना चाहिये।

सत्यमूर्ति सुकरात

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

भर्तृहरि—नीतिशतक

'संसार के नीतिनिपुण मनुष्य चाहे निन्दा करें या स्तुति, चाहे लक्ष्मी प्राप्त होती हो या जाती हो, आज ही मृत्यु होती हो या युगों का जीवन प्राप्त होता हो, सत्यप्रेमी मनुष्य सत्य पथ से, न्याय्य पथ से विचलित नहीं होते।'

सुकरात का जीवन सत्यान्वेषण, सत्य के प्रचार, सत्य के लिये सर्वस्व त्याग और सत्य के लिये हर प्रकार के कष्ट सहन का मूर्त रूप था। सुकरात का जन्म ईसा से ४६६ वर्ष पूर्व यूनान के

एथेन्स नामक नगर में हुआ था। इनके पिता मूर्तिकार थे और माता प्रसूति-परिचारिका (नर्स) थीं।

यूनान के इतिहास में यह वह समय था जबकि एथेन्स नगर साहित्य, राजनीति, कविता, इतिहास, शिल्पकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि में अपने वैभव के चरम शिखर पर था और इस समय एथेन्स में इन विषयों के ऐसे उच्चकोटि के विद्वान हुए हैं जो आज भी अपने अपने विषयों में जगद्गुरु माने जाते हैं। सुकरात का इनमें से अनेकों के साथ संपर्क रहा था, और इन सबके ज्ञान और सद्गुणों की तुलना करने पर पता चलता है कि सुकरात का स्थान इन सब में ऊंचा है।

सुकरात बचपन से ही सत्यप्रेमी और सत्यनिष्ठ थे। जिस बात को ये सत्य और न्याय्य समझते थे उसके कहने और करने में लेशमात्र भी संकोच या भय न करते थे। पृथ्वी की कोई भी शक्ति प्रलोभन या भय देकर, जिसे ये सत्य या न्याय्य समझते थे, उससे इन्हें लेशमात्र भी विचलित करने में समर्थ न हो सकी।

ईसा-पूर्व ४०६ में दस सेनापति एक अपराध में विचारार्थ संसद् में उपस्थित किये गये और यह निर्णय हुआ कि व्यवस्थापिका सभा (सिनेट) यह निश्चय करे कि उन पर किस प्रकार अभियोग चलाया जाय। व्यवस्थापिका सभा ने यह प्रस्ताव पारित किया कि एथेन्स निवासी अभियोग को और बचाव पक्ष को सुनकर मत देकर निर्णय करें कि इन्हें दंड दिया जाय या छोड़ा जाय। यह प्रस्ताव बहुत ही अन्यायपूर्ण और विधि-विरुद्ध था।

सामान्य रूप से अभियोग चलाकर न्यायाधीश के द्वारा जिसका

निर्णय होना चाहिए था उसका निर्णय सामान्य जनमत से कराना अन्याय था। दूसरे, एथेन्स के कानून के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के लिये व्यक्तिगत अपराध के अनुसार पृथक् पृथक् निर्णय होना चाहिये था न कि सामूहिक रूप में एक साथ। जिस दिन इस अभियोग पर मत लिया जाने वाला था उस दिन सुकरात व्यवस्थापिका सभा के प्रधान थे। जन-साधारण अभियुक्तों के प्रति क्रुद्ध थे। अनेक सदस्यों ने इस अपराध को विधि-विरुद्ध जानकर इस पर मत-दान का विरोध करना चाहा किन्तु उन्हें धमकी देकर चुप कर दिया गया। सुकरात को भी पदच्युत करने, बन्दी बनाने और मृत्युदण्ड देने की धमकी दी गई किन्तु उन्होंने इन सब की लेशमात्र भी परवाह न करते हुए उस प्रस्ताव को मत के लिये नहीं आने दिया। दूसरे दिन दूसरा व्यक्ति प्रधान हुआ। उसने जन-साधारण की धमकी के भय से उस प्रस्ताव पर मत लिये और मृत्यु-दण्ड के पक्ष में मतदान होने से उन सेनापतियों को मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। इस घटना का उल्लेख करते हुए अपने ऊपर अभियोग के समय सुकरात ने कहा—"न्याय और विधि की रक्षा के लिये मैंने हर प्रकार के संकट का सामना करना और जेल एवं मृत्यु के भय से आपके अन्यायपूर्ण प्रस्ताव में भागीदार न होना अपना कर्त्तव्य समझा"।

इस घटना के दो वर्ष पीछे ईसा पूर्व ४०४ में गण-तंत्र का अन्त हो गया और तीस व्यक्तियों के अल्पजन-तंत्र का शासन हुआ। इस शासन का प्रधान था क्रिटियस नामक एक व्यक्ति। क्रिटियस और उसके मित्रों का यह शासन भय और आतंकपूर्ण था। राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों और व्यक्तिगत शत्रुओं की हत्या की

जाती थी। इस ही प्रकार प्रतिष्ठित नागरिकों और धनी व्यक्तियों की धन के लिये हत्या कराई जाती थी। अनेक निर्दोष व्यक्तियों को झूठे अपराधों में फसा कर उनका वध किया जाता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने सुकरात और चार अन्य व्यक्तियों को परिषद् भवन में बुलवाया और कुछ व्यक्तियो को वध करने के लिये बन्दी बनाकर लाने की आज्ञा दी। इस आज्ञा के उल्लघन करने का अर्थ था मृत्यु। दूसरे चार व्यक्ति आज्ञा का उल्लघन न कर सके और उन व्यक्तियों को पकड लाये। परन्तु सुकरात मृत्यु की परवाह न कर, आज्ञा का उल्लंघन करके अपने घर पर चले गये। इन्होंने क्रिटियस और उसके साथियों के शासन की और राजनीतिक हत्याओं की सिंह के समान गरजना करते हुए अत्यन्त कठोर शब्दों में निन्दा की। यदि उस शासन का शीघ्र ही अन्त न हो गया होता तो तभी सुकरात की हत्या कर दी गई होती। अत इस घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है, "मैंने केवल शब्दों से ही नहीं अपितु अपने कर्मों से यह प्रकट किया है कि मैंने मृत्यु को तिनके के बराबर भी नहीं समझा किन्तु मैंने अनुचित कर्म न करने की पूरी सावधानी रखी है"।

सुकरात से पहले यूनान के दार्शनिक विश्व के मूलतत्त्वों का चिंतन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुचे थे कि वे मूलतत्त्व वायु, अग्नि और जल हैं। उन्होंने इन प्रश्नों का समाधान ढूँढने का प्रयास किया था कि विश्व के पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न होते हैं? किस प्रकार अस्तित्व धारण करते हैं? क्यों अस्तित्व रखते हैं? परन्तु पाचवी शताब्दि पूर्व में इन समाधानों से एथेन्सवासी संतुष्ट न थे। इस समय एथेन्स निवासी न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित, कल्याणकारी

और उपयोगी आदि विषयों की विवेचना करने लगे थे। किन्तु वह विवेचना अवैज्ञानिक होती थी। इस समय ऐसे शुष्क तार्किक (Sophists) प्रकट हो गये थे जो धन लेकर इन विषयों की शिक्षा दिया करते थे किन्तु उन्हें इन विषयों का कोई स्पष्ट या गंभीर ज्ञान न था। सुकरात ने यूनान देश के सात प्राचीन सन्तों के "आत्मा को जानो" (Know thyself) जैसे सूत्र वचनों का अध्ययन किया था और इनका उन पर प्रभाव था। अत इन्होंने वचपन से मानवता का अध्ययन करना प्रारंभ किया। इन्होंने पवित्रता अपवित्रता, श्रेष्ठता नीचता, न्याय अन्याय, संयम असंयम, साहस कायरता, राज्य, शासन, राजनीति और आत्मा, देवता एवं परमात्मा संबंधी अनुसन्धान तर्क और युक्ति के द्वारा प्रारम्भ किया*।

सुकरात को वचपन में ही चेरीफोन नामक एक व्यक्ति के द्वारा यह पता चला था कि देवता ने उसे कहा है (Oracle of Delphi) कि वह (सुकरात) विश्व का सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी है। स्वय सुकरात का ईश्वर के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था और उन्हें वचपन से ईश्वर की दिव्य वाणी सुनाई दिया करती थी, और प्राय प्रत्येक कर्म के अवसर पर उसके करने या न करने के दिव्य सकेत मिला करते थे। अपने विषय मे इस दिव्य वाणी को सुनकर उन्हें ईश्वर की ओर से इस वाणी की परीक्षा करने का आदेश मिला। इस आदेश के अनुसार ये अपने समय के प्रसिद्ध कवि, कलाकार, राजनीतिज्ञ और दार्शनिकों मे मिले और उनसे बातचीत करके यह अनुभव किया कि इनका ज्ञान थोथा है। उन्होंने अनुभव किया कि मैं भी

* यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर । मनु १२।१०६ ॥

अज्ञानी हूँ और ये भी अज्ञानी हैं। किन्तु मुझमें और इनमें इतना अन्तर है कि वे अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको ज्ञानी मानने का मिथ्या अभिमान रखते हैं और मैं अपने आपको अज्ञानी मानता हूँ* और सदा सच्चे ज्ञान की खोज में लगा रहता हूँ। केवल इतने ही अंश में मैं इनकी अपेक्षा अधिक ज्ञानी हूँ। देववाणी के मुझे सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी कहने का यही अभिप्राय हो सकता है।

जिन व्यक्तियों से सुकरात ने बातें कीं और जिनके अज्ञान का इन्होंने भंडा-फोड़ किया उनमें से अनेक ऐसे थे जिन्होंने अपनी अज्ञानता को स्वीकार करके इनसे बहुत कुछ सीखा। किन्तु अनेक व्यक्ति ऐसे भी थे जिन्हें अपनी लोक-प्रतिष्ठा का अभिमान था और जिन्हें अपनी अज्ञानता के प्रकट होने पर भीषण मर्मवेदना हुई। इस कारण ये सुकरात के विरोधी बन गये और इन्होंने उन पर दो अभियोग लगाये। प्रथम यह है कि इन्होंने एथेन्स के देवताओं में अविश्वास किया है और नवीन देवताओं को माना है दूसरा यह कि इन्होंने नवयुवकों को पथ-भ्रष्ट किया है।

सुकरात देवताओं के अस्तित्व में सच्चे हृदय से विश्वास कर

* सुकरात का अपने आपको दूसरों के समान अज्ञानी कहना वस्तुतः इनकी नम्रता थी। दूसरा वे अज्ञान को वही प्रकट कर सकता है जो उनकी अपेक्षा अधिक ज्ञानी हो। इसके अतिरिक्त, दूसरे व्यक्ति एक विषय के पण्डित थे किन्तु ये अनेक विषयों के ज्ञाता थे। इसके अतिरिक्त, इनका अपने आपको अज्ञानी कहना ईश्वर के अनन्त ज्ञान की तुलना में है। इन्होंने कहा है कि पूर्ण ज्ञानी केवल ईश्वर ही है मनुष्य अल्पज्ञ ही होता है। मेरे जैसा व्यक्ति भी जो कि विश्व में सबसे अधिक ज्ञानी माना जाता है जब अल्पज्ञ है तो मनुष्य मात्र अल्पज्ञ होता है।

थे और इसही कारण इन्होंने अपने विषय में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी होने की देववाणी की परीक्षा करना प्रारम्भ किया। परन्तु देवताओं का जो अनैतिकता-पूर्ण रूप ग्रीक पुराणों में भरा पड़ा था और जिसे एथेन्सवासी जनसाधारण मानते थे उसे ये न मानते थे। ये उसमें सुधार करना चाहते थे। देवताओं के संबंध में इनकी भावना बहुत ऊँची थी और ये जीवन भर, मरने के अनन्तर परलोक में उनके साथ सदा रहने की अभीप्सा करते रहे हैं। इनका ईश्वर में भी पूरा विश्वास था। वे उसे शिव, कल्याणकारी (good) मानते थे। उनका जो ईश्वर था वह सदा श्रेष्ठ ही कर्म करता है नीच, पाप कर्म नहीं करता। वह और केवल वही पूर्ण ज्ञानी, सच्चा ज्ञानी (सर्वज्ञ) है। मनुष्य अल्पज्ञ है। सुकरात की मान्यता थी कि मानव जीवन का लक्ष्य है ईश्वर के सदृश होना और मानव आत्मा ईश्वर का अनुसन्धान और उसकी आज्ञा का पालन करता हुआ उसके सदृश हो जाता है। अतः ईश्वर की आज्ञा सर्वोपरि है और उसका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। सुकरात अपने कर्मों को ईश्वर की आज्ञा से, उसकी सेवा के रूप में किया करते थे। उन्होंने उसकी आज्ञा-पालन में अपनी आहुति दे दी। अतः सुकरात पर लगाया गया देवताओं में अविश्वास का दोष सर्वथा अनुचित था।

नवयुवकों को पथ-भ्रष्ट करने के अभियोग का उत्तर देते हुए सुकरात ने कहा कि जबसे मैंने सुना कि देवता ने मेरे विषय में कहा है (Oracle of Delphi) कि मैं विश्व का सबसे अधिक ज्ञानी हूं तो ईश्वर के आदेश से मैंने इस कथन की परीक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझा। मैंने अनेक राजनीतिज्ञ, कवि, कलाकार और

दूसरे व्यक्तियों से जिनके संबंध में यह प्रसिद्ध था कि वे ज्ञानी हैं बातचीत की। मेरी बातचीतों से उनका अज्ञान प्रकट हुआ। नवयुवकों को मेरी बातें अच्छी लगीं और उन्होंने भी परस्पर में और दूसरे उन व्यक्तियों से, जो अपने आपको ज्ञानी मानते थे, वही प्रश्न करने आरम्भ किये जो मैं किया करता था। मेरे और नवयुवकों के इस आचरण से वे लोग जो अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको ज्ञानी मानने का अभिमान रखते थे मेरे शत्रु बन गये और कहने लगे कि मैंने नवयुवकों को पथभ्रष्ट किया है, किन्तु मैं तो ज्ञान का प्रेमी (फिलासौफर*) और सत्य की खोज करने वाला हूँ। अतः मैं सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने के लिये जिस किसी को भी ज्ञानी सुनता हूँ उससे कुछ सीखने के लिये बातचीत करता हूं। यदि सत्य को खोजना और ज्ञान प्राप्त करने के लिये किसी ज्ञानी माने जाने वाले व्यक्ति से बातचीत करना अपराध है तो मैं इसे स्वीकार करता हूं।

यदि आप मुझे यह कहते हैं, "सुकरात इस समय हम तुम्हें छोड़ रहे हैं किन्तु शर्त यह है कि तुम ज्ञान मे अपने प्रेम को और सत्य की इस खोज को बन्द कर दो, यदि तुम फिर कभी यही कार्य करते पाये गये तो तुम्हें मृत्यु-दंड मिलेगा, तो मैं यह उत्तर दूँगा : ऐथेन्स निवासियों ! मैं आपका बहुत आदर करता हूँ और आप से प्रेम करता हूँ; किन्तु मैं आपकी आज्ञा-पालन करने की अपेक्षा ईश्वर की आज्ञा-पालन करूंगा। मेरा यह दृढ़ विश्वास और

*ग्रीक भाषा में फिलासोफी शब्द का अर्थ है ज्ञान का प्रेम (love of wisdom) और फिलासोफर का अर्थ है ज्ञान का प्रेमी (lover of wisdom)।

सुनिश्चित अनुभव है कि मुझे यह कार्य ईश्वर ने दिया है, आपने नहीं। अतः जब तक मेरे शरीर में थोड़ी सी भी शक्ति है और एक भी सांस शेष रहेगा तब तक मैं अपने ज्ञान-प्रेम को, आपको उपदेश देने को और आप में से जिस किसी से भी मिलूगा उसे इस सत्य की घोषणा करने को बंद नहीं करूंगा। जब भी कभी मुझे आप में से कोई मिलेगा तो मैं उसे यह कहता रहूंगा — जैसा कि मैं अभी तक कहता रहा हूँ— "मेरे आदरणीय मित्र! तुम जो धन, यश, मान, पद, प्रतिष्ठा के इतना अधिक पीछे पड़े रहते हो क्या तुम्हें इस पर लज्जा नहीं आती? तुम ज्ञान एवं सत्य को प्राप्त करने और अपने आत्मा को पवित्र बनाने की चिन्ता क्यों नहीं करते? मेरी यह धारणा है कि एथेन्स-वासियों के लिये इससे अधिक सौभाग्य की बात नहीं हो सकती कि मैं यहां रहता हुआ ईश्वर की और आपकी सेवा करता हूँ। कारण मेरा सम्पूर्ण जीवन चारों ओर घूम घूम कर आप सबको यह शिक्षा देने में बीतता है कि आपका सर्वप्रथम और मुख्यतम कर्त्तव्य है अपने आत्माओं को पवित्र बनाओ और जब तक यह न हो जाय तब तक शरीर, धन आदि की चिन्ता न करो। मैं आपको सदा यह कहता रहा हूँ कि सद्गुण धन से नहीं आता अपितु धन और प्रत्येक श्रेष्ठ पदार्थ जो मनुष्यों के पास है चाहे व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक, सद्गुण से आता है। यदि मैं अपने इस कथन से नवयुवकों को भ्रष्ट करता हूँ तो बहुत बड़ा अपराधी हूँ। परन्तु यदि कोई यह कहता है कि मैं इससे भिन्न कहता हूँ तो वह झूठ बोलता है। और इसलिये मैं कहता हूँ कि चाहे आप मुझे छोड़िये या न छोड़िये यह निश्चय रखिये कि मैं अपनी जीवन-प्रणाली में, कार्य-प्रणाली में परिवर्त्तन नहीं कर

सकता, चाहे मुझे इसके लिये अनेक बार क्यों न मरना पड़े"। इन शब्दों के साथ उन्होंने ईश्वर और न्यायाधीशों के ऊपर निर्णय छोड़ दिया।

इस अवसर पर २२० के विरुद्ध २८१ मतों से उन्हें मृत्युदण्ड दे दिया गया। एथेन्स के कानून के अनुसार उन्हें अपने लिये दूसरे दण्ड के सुझाव देने का अधिकार था। उन्होंने कहा— "मैंने कभी भी सुख का जीवन व्यतीत करने का विचार नहीं किया। मैंने उन सब वस्तुओं की उपेक्षा की है जिनको अधिकतर मनुष्य महत्त्व देते हैं, जैसे धन, पारिवारिक सुख, सैनिक नेतृत्व, रोचक वक्तृत्व, राजनैतिक पद, क्लब, दल निर्माण आदि। इनके बजाय मैंने आप में से प्रत्येक के पास जा जाकर यह समझाने का प्रयास किया है कि बाहरी पदार्थों की चिन्ता करने की अपेक्षा अपने आपको पवित्र, ज्ञानी और पूर्ण बनाओ। और इस प्रकार की शिक्षा देते हुए मैंने किसी से पैसा नहीं लिया। यह मैंने एथेन्सवासियों की श्रेष्ठतम सेवा की है। ऐसे जीवन के लिए मुझे क्या पुरस्कार मिलना चाहिये जो मेरे उपयुक्त हो? मेरे जैसे निर्धन व्यक्ति को जो जनता की सेवा में अपना सम्पूर्ण समय और शक्ति लगाता रहता है और जिसे आपको शिक्षा देने के लिए अवकाश की आवश्यकता है, कोई श्रेष्ठ वस्तु मिलनी चाहिये। वह है ओलम्पिक खेल के विजयी के समान पुरस्कार। ओलम्पिक का विजयी तो केवल आपातत: ही आपको प्रसन्न करता जान पड़ता है किन्तु मैं आपको सच्चा सुख देता हूं। मैंने जीवन में कभी भी कोई अनुचित कर्म नहीं किया। अत: सच्चे रूप में मैं यही सुझाव रख सकता हूँ कि ओलम्पिक के विजयी के समान मेरा आदर सत्कार किया जाय।

- यदि मैं धनी होता तो मैं दण्ड रूप में काफी धन दे सकता था। किन्तु मैंने जिन एथेन्सवासियों की रात दिन सेवा की है उनसे एक पैसा भी कभी नहीं लिया, अतः मैं एक मिना* से अधिक नहीं दे सकता। मेरे मित्र प्लेटो आदि ने कहा है कि मैं ३० मिना का सुझाव रखूं और वे इसके देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं छूटने पर अपने सत्यान्वेषण के कार्य को बंद कर दूंगा। यदि आप इस शर्त पर इसे स्वीकार करते हो तो मैं अस्वीकार करता हूँ। आजीवन कारावास और देश निर्वासन के सुझावों को भी इन्होंने अस्वीकार कर दिया।

इन्हें अपने स्त्री और बच्चों को बुलवाकर न्यायाधीशों के सामने मृत्यु-दण्ड से बचने के लिये दया की प्रार्थना कराने का अधिकार था। किन्तु ऐसा कराने में इन्होंने अपना और एथेन्सवासियों का अपमान समझा। वे अपने द्वारा किसी ऐसी परम्परा में सहायता नहीं करना चाहते थे कि जिससे न्यायाधीशों की दया की भावनाओं को उत्तेजना का अवसर मिले और उनके निष्पक्ष निर्णय में बाधा पहुँचे।

अन्त में न्यायाधीशों ने मृत्यु-दंड को ही निर्धारित किया। सुकरात ने अन्त में कहा "अब मेरा विदा होकर मरने का और आपके जीवित रहने का समय आ गया है। जीवन अच्छा है या मरण इसे केवल ईश्वर ही जान सकता है"।

अन्तिम रूप में मृत्यु-दण्ड निर्धारित हो जाने पर इन्हें जेल में

---

* तत्कालीन चांदी का सिक्का।

भेज दिया गया और पैरों में बेड़ियाँ डाल दी गईं। परन्तु उस समय एक धार्मिक उत्सव के आ जाने के कारण इन्हें ३१ दिन तक फांसी न दी जा सकी। एक दिन प्रातःकाल इनका शिष्य क्रीटो इनके पास पहुंचा। सुकरात उस समय सो रहे थे। वह इनके उठने की प्रतीक्षा करता रहा। उठने पर क्रीटो ने कहा कि इतने भीषण सङ्कट के अवसर पर भी आप इतने सुखपूर्वक सोये हैं यह आश्चर्य की बात है। वैसे तो सम्पूर्ण जीवन भर मैं आपको प्रसन्न चित्त देखा करता था, किन्तु अब जबकि मैं देखता हूँ कि आप कितनी सरलता और शान्ति के साथ इस सङ्कट को सहन कर रहे हैं और प्रसन्न हैं तो मुझे बहुत आश्चर्य होता है। सुकरात ने उत्तर दिया कि इस आयु में यदि मरने के कारण मुझे क्रोध आता तो मेरे लिये बहुत मूर्खता की बात होती। क्रीटो ने इनसे प्रार्थना की कि मैंने आपके लिये जेल से बाहर थैसली में पहुँचने का प्रबंध कर दिया है। आप वहा चलें, वहा आप मेरे मित्रों के पास सुखपूर्वक रहेंगे। वहा आपको कोई कष्ट न होगा और आपका बहुत स्वागत होगा। सुकरात ने कहा कि हमें केवल यही सोचना चाहिये कि हम उचित कार्य कर रहे हैं या अनुचित। मैं अब भी वही हूँ जो पहले था। विचार करने पर जो सत्यतम जान पड़ता है मैं केवल उसे ही सुन सकता हूँ अन्य कुछ नहीं। इस दुर्घटना के कारण मैं अपने पहले विचारों को नहीं बदल सकता। मेरा छिपकर यहा से भागना किसी प्रकार भी उचित नहीं है, यह अनुचित कार्य है अतः इसे मैं अस्वीकार करता हूँ।

मृत्यु के दिन इनके कुछ शिष्य इनके पास पहुँचे। उस समय वे बिस्तरे पर बैठे थे। पैरों में से तभी बेड़िया खोली गई थीं और

दर्द हो रहा था। उन्होंने हाथ से पैरो को मलते हुए विनोद मे कहा देखो जिसे मनुष्य सुख कहते हैं वह कैसा विचित्र पदार्थ है। उस का दुःख के साथ जो कि उसका विरोधी जान पड़ता है कैसा विचित्र संबंध है। ये दोनो मनुष्य के पास एक साथ नहीं आते, परन्तु यदि मनुष्य एक के लिये प्रयास करता है और उसे प्राप्त कर लेता है तो उसे दूसरे को भी अवश्य लेना पड़ता है। यदि ईसप इन्हें देख लेता तो इस प्रकार की कथा का निर्माण कर देता एक बार इनमें परस्पर मे झगडा हुआ। झगडा करते हुए ये ईश्वर के पास पहुचे। जब वह इनके झगडे को न निपटा सका तो उसने एक सिरे पर सुख को और दूसरे सिरे पर दुःख को जोड दिया। इसलिए जब मनुष्य के पास इनमें से एक आता है तो दूसरे का आना भी निश्चित है। यही मेरे साथ भी है। अभी मेरे पैरो मे बेडी का दुःख था और अब बेडी हटने से और मलने से सुख आ गया है। इसके अनन्तर दिन भर आत्मा, मृत्यु और परलोक विषयक बातें होती रहीं। सुकरात ने कहा मृत्यु का अर्थ है आत्मा और शरीर का पृथक् पृथक् हो जाना। आत्मा शरीर के मरने पर मरता नहीं है। उसका अस्तित्व रहता है। वह अमर है।

जो व्यक्ति पेटू, भोगी, कामी, शराबी होते हैं वे सभवतः ऐसे पशुओं की योनि में जाते हैं जैसे गधा। जो अन्यायी, अत्याचारी, डकैत हैं वे ऐसी योनियो मे जाते हैं जैसे भेडिया, बाज, चील। जिन्होंने न्याय, संयम का अभ्यास किया है किन्तु सत्य और ज्ञान की खोज के लिये प्रयास नहीं किया, वे ऐसी मृदु और सामूहिक जीवन वाले जीवों की योनियों मे जाते हैं जैसे मधुमक्खी, चींटियां, भिरड अथवा वे ऐसे मनुष्यों में जन्म लेते हैं जहा वे

अच्छे नागरिक बन सकें।

परन्तु सत्यान्वेषी, ज्ञान-प्रेमी व्यक्ति (Philosopher) खाने, पीने, वस्त्र, जूते, अलंकार आदि की चिन्ता नहीं करता। वह इन्हें उतना ही स्वीकार करता है जहाँ तक कि इनका स्वीकार करना नितान्त आवश्यक है। वह इनसे घृणा करता है। वह सद्गुण के लिए प्रयास करता है। ज्ञान ही सद्गुण है, सद्गुण ज्ञान है, अज्ञान दुर्गुण है और दुर्गुण अज्ञान है। तर्क और युक्ति के द्वारा आत्मा को सच्चा सत्य प्रकट होता है और आत्मा सर्वोत्तम रूप मे तभी तर्क कर सकता है जबकि चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों के व्यापार और सुख दुःख आदि द्वन्द्व उस पर प्रभाव नहीं करते। जिस समय आत्मा, जहाँ तक इसके लिए सभव है, अपने आपको समस्त शारीरिक संस्पर्शों और सवेदनो से मुक्त कर लेता है और इस प्रकार शरीर से पृथक् करके अपने स्वरूप मे स्थित हो जाता है तभी वह सत्य के लिए सच्चे रूप मे प्रयत्न कर सकता है। आत्मा को शरीर से मुक्त करने पर ही हम शुद्ध ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। और तभी आत्मा पदार्थों को जैसा कि वे वस्तुत हैं वैसा, यथार्थ रूप मे देखता है। यही आत्मा का शुद्धीकरण है। जो ऐसा करता है वही सच्चा सत्य-प्रेमी, ज्ञान-प्रेमी, दार्शनिक (फिलासफर) है। वह जीवन रहते हुए उस शुद्ध ज्ञान के समीप पहुच जाता है और ईश्वर की इच्छा से शरीर छूटने पर उस शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करता है और उस लोक मे पहुच जाता है जो शुद्ध और ज्योतिर्मय है, जहा वह भ्रम, अज्ञान, भय, कामनाओं और हर प्रकार के दोषों से मुक्त होकर सत्य मे स्थित रहता है, जहा देवता और सच्चे ज्ञानी मनुष्य निवास करते हैं, और जहा श्रेष्ठ, शिव, कल्याणकारी,

सधा ज्ञानी, सर्वज्ञ ईश्वर निवास करता है। वहा उसका आत्मा शरीर के बधन से सदा के लिये मुक्त हुआ रहता है। यदि ईश्वर की वैसी इच्छा हुई तो मेरा आत्मा भी शीघ्र वहीं जायगा।

इस प्रकार की बात-चीत होते होते सूर्यास्त का समय आ पहुचा। सुकरात ने स्नान किया। उनके सामने विष का प्याला आ पहुचा। सुकरात ने कहा, "हे देवताओ! मेरी प्रार्थना है कि यहा से आगे की मेरी यात्रा कल्याणकारी हो"। यह कहकर उन्होने प्याले को मुँह से लगाया और पूर्ण शान्ति एव प्रसन्नता के साथ विष-पान कर लिया। उनके पास बैठे व्यक्ति रोपडे। सुकरात स्वय शान्त और प्रसन्न रहे और उन्होने उन्हे शात रहने का आदेश दिया। वे थोडा सा टहल कर लेट गये। उनका मुँह वस्त्र से ढक दिया गया और कुछ समय में उनका शरीर चेतना शून्य हो गया और आत्मा शरीर को छोडकर अपने चिर-अभीप्सित लोक को चला गया।

सुकरात ने या किसी भी महापुरुष ने सत्य के पूरे स्वरूप का दर्शन किया है या उसे प्रकट किया है यह कह सकना कठिन है। सुकरात ने नीति, राजनीति, दर्शन, तर्क, अध्यात्म जैसे किसी विषय के व्यवस्थित शास्त्र की रचना भी नही की। किन्तु इनका सम्पूर्ण जीवन इन विषयो के गहरे सत्य की खोज म बीता और इन्होने अपने तर्क के द्वारा अपने समय के विद्वानो की पण्डित-मन्या बुद्धियो पर से अज्ञान तिमिर का आवरण हटा कर उन्हे गहरे सत्य की खोज में प्रवृत्त किया। सुकरात के तुरन्त पीछे जो व्यवस्थित शास्त्रों के निर्माता प्लेटो और अरस्तु जैसे विद्वान् हुए हैं

उनके जनक सुकरात ही थे। योरोप मे जो आज साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान आदि मे इतनी अधिक खोज और प्रगति दिखाई देती है इसके प्रवर्तक सत्यमूर्ति सुकरात ही हैं।

इनमें सच्चे वीर सैनिक के साहस और निर्भयता थे, सच्चे देशभक्त के देश-प्रेम और बलिदान थे, सच्चे कर्मयोगी की निष्कामता, निःस्वार्थता और निर्ममता थी, सच्चे दार्शनिक की खोज थी, सच्चे महात्मा के मन वचन और कर्म मे एकता और त्याग थे, सच्चे ऋषि की अध्यात्म जिज्ञासा और सूक्ष्म दृष्टि थी, सच्चे ईश्वर-भक्त का आज्ञा-पालन और आज्ञा-पालन में पूर्ण आत्म-समर्पण और सर्वस्व हवन करने की प्रचण्ड अग्नि थी। दूसरे शब्दो मे ज्योतिर्मय सत्य ही मूर्तिमान होकर अपने समय की आवश्यकता के अनुसार सुकरात का चोला पहन कर प्रकट हुआ था और जरा सी अपनी झलक दिखाकर, आंख-मिचौनी जैसा खेल खेलता हुआ, विषपान का अभिनय करके पर्दे के पीछे छिप गया। जिस प्रकार प्रभात में अपनी सहस्रों ज्योतिर्मय किरणों को फिर फैलाने के लिये सहस्रांशु स्वल्पकाल के लिये अंधकारावरण में अपने आपको छिपा लेता है उसी प्रकार असंख्य नवीन रूपों मे फिर प्रकट होने के लिये उस ज्योतिर्मय सत्य ने दुष्टता, अन्याय, अत्याचार, दंभ, मिथ्याचार, स्वार्थलोलुपता आदि सूत्रों के ताने-बाने मे बुने अज्ञानान्धकार रूप पर्दे के पीछे अपने आपको स्वल्पकाल के लिये छिपा लिया। एक कुशल योद्धा के समान, सामने के युद्ध मे विलम्ब से विजय होती देख, जरा ओट में होकर उसने युद्ध करना पसन्द किया और इस प्रकार छिप कर आक्रमण करके अज्ञान-रूप शत्रु की सेना पर विजय प्राप्त की।

सत्यव्रती हरिश्चन्द्र

रघुकुल रीति सदा चली आई।
प्रान जाई पर वचन न जाई॥

सत्य स्वर्गस्य सोपान पारावारस्य नौरिव॥

'जिस प्रकार समुद्र के दूसरे किनारे पहुचने के लिए नौका होती है इसही प्रकार दिव्यलोक मे आरोहण करने के लिये सत्य सोपान है।'

सत्य का आचरण करते करते मनुष्य का हृदय इतना शुद्ध हो जाता है कि वह स्वप्न मे जिन मनुष्यों को देखता है वे उसे जागृत में दिखलाई देते हैं। यदि वह स्वप्न मे किसी को कोई पदार्थ देता है या किसी से लेता है तो यही घटनाये जागृत अवस्था मे उसके सामने उपस्थित हो जाती हैं। इस अवस्था का और सत्य के लिए स्वेच्छा से उठाये जाने वाले कष्टो का एक अत्यत अद्भुत उदाहरण राजा हरिश्चन्द्र का है। हरिश्चन्द्र सूर्यवंशी कुल के राजा नहुप के पुत्र थे। इनके सत्य का यश बहुत फैल गया था। ऋषि विश्वामित्र के मन मे इनकी परीक्षा लेने का विचार आया। विश्वामित्र एक बहुत उच्चकोटि के योगी थे। उनमे यह सामर्थ्य थी कि वे दूसरो को स्वप्न मे दिखलाई दे सकते थे और उनके मन से बाते कर सकते थे। उन्होने हरिश्चन्द्र के सामने स्वप्न मे एक ब्राह्मण के रूप मे प्रकट होकर उनसे उनका संपूर्ण राज्य दान मे माग लिया। हरिश्चन्द्र जब स्वप्न से जागे तो उन्होंने सोचा कि यह राज्य तो मैंने दान कर दिया है इसलिये अब इस पर मेरा अधिकार नहीं है। उन्होने दूसरे दिन राजसभा मे मंत्री और सभासदों के सामने अपना यह स्वप्न प्रकट

किया और उनसे परामर्श किया कि अब क्या करना चाहिये। मन्त्रियों ने कहा कि राजन्! स्वप्न की बातें विश्वसनीय नहीं होतीं। आप इन बातों को मन मे निकाल दीजिये और यथापूर्व शासन करते रहिये। परन्तु हरिश्चन्द्र को इस उत्तर से सन्तोष न हुआ। उन्होंने कहा कि सभी स्वप्नों की बातें अविश्वसनीय नहीं होतीं। कुछ स्वप्न सच्चे भी होते हैं और बहुत गहरे अर्थ रखते हैं। मेरा यह स्वप्न भी ऐसा ही जान पड़ता है और मेरा विश्वास है कि जिस व्यक्ति को मैंने राज्य का दान किया है वह एक न एक दिन मुझे अवश्य मिलेगा और मुझसे राज्य मांगेगा। जब तक वह मुझे नहीं मिलता तब तक मैं उसके सेवक के रूप में राज्य की देख भाल करता रहूँगा, परन्तु राज्य उसका ही रहेगा। जैसे ही उसका पता चल जायगा तो वही राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होगा। मैं अपने इस निश्चय को नहीं बदल सकता। यह कहकर हरिश्चन्द्र ने उस अज्ञात नाम वाले व्यक्ति के नाम की मुहर बनवाली।

कुछ ही समय में विश्वामित्र स्वयं हरिश्चन्द्र के पास आ पहुचे। हरिश्चन्द्र ने उन्हें देखकर सोचा कि यही वे महात्मा जान पड़ते हैं जिन्हें मैंने राज्य दान किया था। अस्तु! यदि ये वही हैं तो मेरे बिना कुछ कहे स्वयं ही चर्चा छेड़ेंगे। हरिश्चन्द्र ने उन्हें बहुत आदर सत्कार के साथ आसन पर बिठलाकर पूछा : कहिये भगवन्! क्या आज्ञा है? मेरे योग्य जो सेवा हो उसे कहकर अनुगृहीत करें। विश्वामित्र ने कहा– राजन्! मैं आप से कुछ भिक्षा मांगने आया हूं। यदि आप देने का आश्वासन दें तो कहूँ। हरिश्चन्द्र ने कहा– महर्षे! स्वर्ण, पुत्र, स्त्री, देह, प्राण, राज्य, नगर, लक्ष्मी जिस वस्तु की भी आवश्यकता हो निःसंकोच भाव से

कहिये। मैं दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु भी देने को तैयार हूँ*। विश्वामित्र ने कहा— राजन्! मैं आपसे राज्य मागता हूँ। यह सुनकर हरिश्चन्द्र की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उन्होंने कहा— "भगवन्! मैं तो आपकी प्रतीक्षा मे था, यह राज्य आपका ही है लीजिये"। यह कहकर उन्होंने विश्वामित्र को अपना सपूर्ण राज्य दान कर दिया। विश्वामित्र ने दान स्वीकार करके कहा— राजन्! दान के साथ दक्षिणा का भी नियम है। शास्त्रों का कथन है कि बिना दक्षिणा के दान अधूरा होता है। अत दान के साथ दक्षिणा भी मिलनी चाहिये। हरिश्चन्द्र ने कोषाध्यक्ष को सोना लाने का आदेश दिया।

कोषाध्यक्ष जब सोना लेकर उपस्थित हुआ तो विश्वामित्र ने पूछा कि यह सोना कहाँ से आया है? क्या यह राज्य-कोष से आया है? हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया— हाँ। विश्वामित्र ने कहा— हरिश्चन्द्र! राज्य के साथ साथ आप राज-कोष का भी दान कर चुके हैं, तब फिर राजकोष से सोना मगाकर देने का आपको क्या अधिकार है? हरिश्चन्द्र ने व्याकुलता से कहा— भगवन्! मुझसे भूल हो गई, क्षमा कीजिये। कोष भी आपका ही है, आप मुझे एक माह का समय दे दें, इस बीच मे मैं आपको दक्षिणा अवश्य दे दूँगा। विश्वामित्र ने कहा— अच्छा, परन्तु अब यह राज्य मेरा है और ये भूषण आदि भी मेरे ही हैं। अत इन्हे उतार कर आपको मेरे राज्य

---

*उच्यता भगवन् यत्ते दातव्यमविशङ्कितम्।
दत्तमित्येव तद्विद्धि यद्यपि स्यात सुदुर्लभम् ॥७।२३॥
हिरण्य वा सुवर्ण वा पुत्र पत्नी कलेवरम्।
प्राणा राज्य पुर लक्ष्मी यदभिप्रेतमात्मन ॥७।२४॥
मा० पु०

से बाहर चले जाना चाहिये* अन्यथा आपके यहाँ रहने पर प्रजा में असंतोष और विद्रोह फैल सकते हैं। हरिश्चन्द्र ने अपने और अपनी स्त्री एवं पुत्र के सब सुन्दर-सुन्दर राजकीय वस्त्र और अलंकार उतार दिये और वल्कल पहनकर राजमहल छोड़कर नगर से बाहर चल दिये।

जिस समय हरिश्चन्द्र स्त्री और पुत्र के साथ वल्कल पहन कर अयोध्या की गलियों में से चल रहे थे तो यह बहुत ही विचित्र दृश्य था। नगरवासी आश्चर्य चकित होकर कह रहे थे जिनके बाहर निकलने पर आगे पीछे अनेकों नरपति हाथ जोड़े चला करते थे, अनेकों सेवक हाथियों पर सवार होकर, शस्त्रास्त्रों से सज्जित होकर जिनकी रक्षा किया करते थे, वही महाराज हरिश्चन्द्र आज अकेले नंगे पैर भूमि पर चल रहे हैं। यह सुकुमार बालक जिसके कोमल शरीर में अभी तक खुली हवा भी नहीं लगी थी कैसे ऊची, नीची, कांटे-खोंचे की भूमि पर चलेगा? और हाय! ये महारानी शैव्या! जिन्हें सूर्य की किरणें भी नहीं देख पाती थीं (असूर्य पश्या), जिनके पास जाने में हवा को भी डर लगता था, जो कमल दल के समान कोमल शय्या पर सोती थीं, वही आज वल्कल पहन कर पैदल चल रही हैं। ये कैसे वृक्ष के नीचे ककरीली, ऊँची-नीची कठोर भूमि पर सोयेंगी? उनकी यह दशा देखकर कोई रो रहा था, कोई मूर्च्छित

*यदि राजस्त्वया दत्ता मम सर्वा वसुन्धरा।
यत्र मे विषये स्वाम्य तस्मान्निष्क्रान्तुमर्हसि ॥७।३३॥
श्रोणीसूत्रादि सकल मुक्त्वा भूषणसंग्रहम्।
तरवल्कसमाबध्य सहपत्न्या सुतेन च ॥७।३४॥
मा० पु०

हो रहा था, किन्तु हरिश्चन्द्र शान्त भाव से उन्हें आश्वासन देते हुये आगे बढ़ते जा रहे थे।

अयोध्या से बाहर निकलकर हरिश्चन्द्र ने काशी की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में चलते चलते शैव्या थक गई और रोहिताश्व के कोमल तलवों में फफोले पड़ गये। इन कारणों से उन्हें काशी पहुंचने में एक माह लग गया। इसही समय विश्वामित्र उपस्थित हो गये और उन्होंने दक्षिणा मांगी। हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया कि भगवन्! अभी आधा दिन शेष है, मैं सूर्यास्त से पहले ही आपको दक्षिणा दे दूंगा। यह सुनकर विश्वामित्र कुछ घड़ी पीछे आने को कह कर चले गये।

हरिश्चन्द्र गहरी चिन्ता के साथ सोचने लगे कि इतनी भारी दक्षिणा मैं कैसे दूँगा? यहाँ कोई मित्र भी नहीं है जिससे ऋण लिया जा सके। क्या मैं अपने आपको बेचकर दक्षिणा दे दूँ? राजा को गहरी चिन्ता में देखकर रानी ने रुंधे हुये कण्ठ से कहा:— "हे महाराज! चिन्ता को छोड़कर सत्य का पालन करो। सत्य-रहित मनुष्य श्मशान के समान त्याज्य होता है। अतः हे पुरुषसिंह! मनुष्य के लिए अपने सत्य के पालन करने के समान परम-धर्म दूसरा कोई नहीं है। अग्निहोत्र, स्वाध्याय और दान आदि समस्त कर्म असत्य-भाषी के निष्फल हो जाते हैं। धर्मशास्त्रों में बुद्धिमानों ने सत्य को मनुष्य के तरने के लिये अत्यन्त उत्कृष्ट साधन बतलाया है और झूठ को पतन करने वालों में प्रधान कहा है। हे राजन्! मेरे सन्तान हो चुकी है और हमारे विवाह का प्रयोजन पूरा हो गया है। आप मुझे बेचकर जो धन प्राप्त हो उसे दक्षिणा में दे दीजिये।"

रानी के इस प्रकार के वचन सुनकर हरिश्चन्द्र को बहुत दुःख हुआ और वे विलाप करते हुए इस प्रकार कहने लगे— "हे प्रिये ! यह बड़े दुःख की बात है जो तुम ऐसा कहती हो। मैं ऐसा निष्ठुर कार्य कैसे कर सकूगा ? मुझे ऐसी बात सुननी पड़ी मुझे धिक्कार है।" हरिश्चन्द्र मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। जब उन्हे होश आया तो शैव्या ने फिर आग्रहपूर्वक कहा कि महाराज ! अधिक सोच विचार में न पड़कर मुझे बेच दीजिये। इसही समय सुकुमार रोहित ने भूख से व्याकुल होकर कहा कि पिता जी मुझे भूख लगी है, माता जी मुझे बहुत भूख लगी है, मेरी जिह्वा सूखी जा रही है, शीघ्र भोजन दो। हरिश्चन्द्र ने और भी अधिक वेदना का अनुभव करते हुए शैव्या के आग्रह को देखकर कहा– "अच्छा प्रिये ! मैं इस क्रूर कर्म को भी करूँगा। मैं तुम्हे बेचुगा, रोहित को बेचूँगा और अपने आप को भी बेचूंगा, परन्तु सत्य को नहीं छोड़ूँगा। सत्य ही मेरा जीवन है, सत्य ही मेरा प्राण है, सत्य ही मेरा धर्म है"।

हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र और पत्नी के साथ नगर में प्रवेश किया। वे जोर जोर से पुकार कर कहने लगे– "नगरवासियो ! मैं कौन हूँ यह मत पूछो। मैं क्रूर हूँ, मनुष्यत्व से हीन हूँ, राक्षस से भी अधिक पापी हूँ। मैं स्वयं अपनी स्त्री को बेचना चाहता हूँ। यदि आप में से किसी सज्जन को दासी की आवश्यकता हो तो इसे मोल ले लो।" हरिश्चन्द्र की बातें सुनकर एक वृद्ध ब्राह्मण ने उसे स्वर्ण मुद्रायें देकर मोल ले लिया और वह शैव्या को अपने साथ लेकर चलने लगा। रोहिताश्व ने अपनी मां की साड़ी पकड़ली। ब्राह्मण ने रोहिताश्व को हटाकर अलग कर दिया और वह रोते-रोते गिर पड़ा।

परन्तु यह फिर उठकर माता के पीछे-पीछे भागता रहा। यह देखकर शैव्या ने वृद्ध ब्राह्मण से प्रार्थना करते हुये कहा— भगवन्! जब आपने मुझे मोल ले लिया है तो इस बालक को भी ले लो। यह भी आपकी यथाशक्ति सेवा करेगा और इसके बिना मैं पूरे हृदय से सेवा न कर सकूँगी। ब्राह्मण ने दयार्द्र होकर बालक का भी मूल्य देकर उसे मोल ले लिया।

इसही समय विश्वामित्र आ पहुँचे। हरिश्चन्द्र ने उस धन को उन्हें दे दिया। विश्वामित्र ने कहा कि इतने बड़े राज्य की दक्षिणा में यह धन तो बहुत कम है, शेष दक्षिणा भी शीघ्र ही मिल जानी चाहिये। हरिश्चन्द्र ने कहा- भगवन्! अभी सूर्यास्त होने से कुछ घड़ी शेष हैं। मैं जो वचन दे चुका हूँ उसे अवश्य पूरा करूंगा। आप मेरा दृढ़ निश्चय सुनिये :

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै सकल संसार।
पै सत्यव्रती हरिश्चन्द्र को, टरै न दृढ विचार॥

यह कहकर हरिश्चन्द्र फिर नगर में घूमते हुए कहने लगे— "नगरवासियो! मैं अपने आपको बेचना चाहता हूँ। जो मनुष्य मुझे मोल लेगा मैं उसकी हर प्रकार से सेवा करूंगा"। जब यह घोषणा करते हुए घूम रहे थे तभी एक चाण्डाल ने आकर हरिश्चन्द्र से कहा— मुझे सेवक की आवश्यकता है मैं तुम्हें मोल ले लूंगा, तुम अपना दाम बतलाओ। हरिश्चन्द्र ने पूछा- भाई! तुम कौन हो? चाण्डाल ने उत्तर दिया- मैं प्रवीर नामक चाण्डाल हूँ। मेरा कार्य है वध-योग्य पशुओं का वध करना और मुर्दों का कफन लेना'। हरिश्चन्द्र यह सुनकर सोचने लगे कि चाण्डाल का कार्य करने में मैं अपने क्षत्रिय धर्म से भ्रष्ट हो जाऊँगा। चाण्डाल के

दासत्व को स्वीकार करने की अपेक्षा तो शाप की अग्नि से भस्म हो जाना अच्छा है। उसही समय विश्वामित्र प्रकट हो जाते हैं और कहते हैं कि हरिश्चन्द्र! आगा पीछा क्या देखते हो? यदि चाण्डाल पुष्कल धन देने को तैयार है तो उसे क्यों नहीं ले लेते? क्या शेष दक्षिणा देने की इच्छा नहीं है? विश्वामित्र के ऐसे हृदय-विदारक शब्दों को सुनकर हरिश्चन्द्र ने कहा— "भगवन्! मैं पवित्र क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुआ हूँ। अब तक मैंने जान-बूझ कर चाण्डाल का कर्म नहीं किया है। यदि आप आज्ञा देते हैं तो मैं इस निकृष्टतम कार्य को भी करनेको तैयार हूँ।" यह कहकर उन्होंने अपने आपको चाण्डाल के सुपुर्द कर दिया और उससे जो स्वर्ण मुद्रायें मिलीं उन्हें दक्षिणा में दे दिया।

चाण्डाल ने उन्हें श्मशान में मुर्दा जलाने आने वालों से कर वसूल करने के कार्य में नियुक्त किया। वे श्मशान में रहकर पहरा दिया करते और मुर्दा जलाने आने वालों से कर वसूल किया करते थे।

शैव्या और रोहिताश्व अपने स्वामी ब्राह्मण की सेवा किया करते थे। एक बार रोहिताश्व ब्राह्मण की पूजा के लिये वन में फूल तोड़ने गया था। वहाँ उसे सर्प ने काट लिया और वह मर गया। शैव्या विलाप करती हुई अपने बच्चे के शव को लिए घाट पर आई। हरिश्चन्द्र उसे न पहचान सके और वह भी हरिश्चन्द्र को न पहचान सकी। उसे तो यह कल्पना भी न थी कि मेरे पति सम्राट हरिश्चन्द्र चाण्डाल के वेष में होंगे। हरिश्चन्द्र ने उससे कफन मांगा। उसके पास देने के लिए कुछ भी न था। वह और

भी अधिक विलाप करने लगी। वह कहती जाती– "बेटा! तुम बोलते क्यों नहीं? हा राजन्! हा नाथ! मुझ दुःखिया को छोड़कर कहाँ बैठे हो? मुझे आकर आश्वासन क्यों नहीं देते। हे विधाता! राज्य गया, बन्धु बांधवों का वियोग हुआ, स्त्री और पुत्र का विक्रय हुआ, राजर्षि हरिश्चन्द्र को तुमने ऐसा क्यों कर दिया? क्या उन्हें इस बात का पता है कि सम्राट हरिश्चन्द्र का पुत्र आज दाह-संस्कार के लिये श्मशान पर आया है और उसके शरीर पर कफन तक नहीं है"। शैव्या के इन वचनों को सुनकर हरिश्चन्द्र ने उसे पहचान लिया। हरिश्चन्द्र शोक से व्याकुल होकर विलाप करते हुए कहने लगे– "हे पुत्र! पिताजी! पिताजी! कहता हुआ कौन मेरी गोदी में आकर बैठेगा और मैं उसे पुत्र कह कह कर पुकारूंगा? अब किस के शरीर की धूल मेरे वस्त्रों को मलीन करेगी? मैं बहुत ही अधम हूँ जो मैंने अपने इकलौते पुत्र को साधारण वस्तु के समान बेच डाला। दैव भी कितना निर्दयी है जो राज्य, साधन, धन हरण करके पुत्र को भी सर्प से डसवा दिया।" यह कहकर उन्होंने आंखों में आंसू भर कर उस बालक को छाती से लगा लिया और मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़े।

इस समय शैव्या ने उन्हें पहचान लिया। जब उन्हें होश आई तो शैव्या के पूछने पर उन्होंने बतलाया कि मैं चाण्डाल का सेवक हूँ। मेरा काम है कफन लेना। मैं रोहित के साथ ही अग्नि में जल जाता, किन्तु चाण्डाल की आज्ञा के बिना, उसका ऋण चुकाये बिना अग्नि में जलने का मुझे अधिकार नहीं है। शैव्या ने कहा– राजन्! मेरा भी चित्त करता है कि मैं अग्नि में अपने आप को जला डालूँ किन्तु मैं ब्राह्मण की दासी हूँ। उसका ऋण चुकाये

बिना, उनकी आज्ञा के बिना मुझे मरने का अधिकार नहीं है।

अब हरिश्चन्द्र के सत्य की कठिनतम परीक्षा का समय आया। हरिश्चन्द्र का कार्य था घाट पर मुर्दा जलाने आने वाले व्यक्तियों से कर वसूल करके अपने स्वामी को देना। आज यदि वे अपने पुत्र की मृत्यु और स्त्री के मोह के कारण कफन न लें तो अपने कर्त्तव्य से, सत्य से च्युत हो जायं। वह पुत्र चाहे उनका अपना ही क्यों न हो, किन्तु अब वे चाण्डाल के सेवक हैं। वे चाहते तो चाण्डाल के पास जाकर उससे यह सब वृत्तान्त कहकर कफन न लेने के लिये दया की प्रार्थना कर सकते थे। परन्तु बिना उसकी अनुमति प्राप्त किये, कर लिए बिना पुत्र के शव को जलाने की अनुमति देना असत्य ही था। हरिश्चन्द्र ने यह सब बहुत सूक्ष्मता से सोच विचार कर शैव्या से कहा— "प्रिये! मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि तुम मेरी पत्नी हो और यह मेरा इकलौता पुत्र है। किन्तु यदि मैं बिना कफन लिए जलाने की अनुमति देता हूँ तो अपने सत्यव्रत से च्युत होता हूँ। जिस सत्य के पालन करने के लिए हमने इतने अधिक कष्ट उठाये हैं उसे इस मोह में आकर छोड़ देना हमारे लिये उचित नहीं है। अत: दाहसंस्कार से पहले कफन का प्रबन्ध हो जाना चाहिये।" शैव्या ने कहा— स्वामिन्! आप तो जानते ही हैं कि मेरे पास है ही क्या? मैं कहाँ से वस्त्र लाकर दूं? परन्तु हरिश्चन्द्र अपनी बात पर अटल रहे। शैव्या ने अन्त में कहा— यही साड़ी मेरे पास है। इसमें से आधी फाड़कर दिये देती हूँ और आधी से अपनी लज्जा निवारण करूँगी। हरिश्चन्द्र ने इसे स्वीकार कर लिया।

हरिश्चन्द्र सत्य की कठिनतम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये।

शैव्या ने अपनी साड़ी फाड़ने के लिए हाथ बढ़ाया। उसही समय विश्वामित्र प्रकट हो गये और उन्होंने रोहिताश्व को जीवित कर दिया। उन्होंने हरिश्चन्द्र से कहा— राजन् ! मेरे कारण आपको बहुत कष्ट उठाना पड़ा है। मैं तुम्हारी सत्यनिष्ठा से बहुत प्रसन्न हूँ। सत्यवादियों में सबसे पहले तुम्हारी गणना होगी। तुम्हारी कीर्ति अजर अमर रहेगी। सत्य स्वयं भगवान् है। उसे धारण करना स्वयं भगवान् को ही धारण करना है। अतः भगवान् में तुम्हारा सदा निवास रहेगा। अब यह राज्य तुम्हारा ही है। इसे स्वीकार करो।

रोहिताश्व जीवित होकर मां के गले लग गया। शैव्या के आनन्द का ठिकाना न रहा। उसही समय हरिश्चन्द्र के सामने देवराज इन्द्र प्रकट हो गये। उन्होंने हरिश्चन्द्र से कहा— हरिश्चन्द्र ! तुम्हें अनेक पुण्यलोकों की प्राप्ति हुई है। तुम अपने पुत्र और स्त्री के साथ विमान में चढ़कर स्वर्ग चलो। हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया— देवराज ! मैंने जिस राज्य, धन आदि का दान किया है वह केवल मेरा नहीं था, वह तो प्रजा का भी था। यदि मैंने कोई पुण्य किया है तो प्रजा भी उसमें समान रूप से भागीदार है। अतः प्रजा के धन का दान करके मैं अकेला स्वर्ग जाने का अधिकारी नहीं हूँ।

उसही समय उनके सामने स्वयं भगवान् प्रकट हो जाते हैं। हरिश्चन्द्र को उनके दर्शन करके परमानन्द हुआ। हरिश्चन्द्र के यश का गान इस प्रकार गाया जाने लगा :

हरिश्चन्द्र समो राजा न भूतो न भविष्यति।
सत्यवादी तथा दाता शूरः परमधार्मिकः॥

अहो दानमहो धैर्यमहो वीर्यमखण्डितम् ।
उदारधीरवीराणां हरिश्चन्द्रो निदर्शनम् ॥
अहो तितिक्षामाहात्म्यमहो दानफलं महत् ।
यदागतो हरिश्चन्द्रः पुरीं चेन्द्रत्वमाप्तवान् ॥

हरिश्चन्द्र के समान सत्यवादी, दाता, शूर, परम-धार्मिक राजा न हुआ है और न होगा। कैसा अद्भुत उसका दान था, कैसा अद्भुत उसका धैर्य था, कैसा अखण्ड उसका बल था, हरिश्चन्द्र उदारता, धीरता और वीरता का आदर्श था। कैसा अद्भुत उसका दान था, कैसी अद्भुत उसकी तितिक्षा थी जिसके फलस्वरूप वह इन्द्रपुरी को, भगवान् के परम पद को प्राप्त हो गया।

× × ×

हरिश्चन्द्र के इस उपाख्यान में साधारण दृष्टिकोण से अनेक बातें असंभव सी जान पड़ती हैं। प्रथम, एक राजा का स्वप्न में राज्य दान कर देने पर जागृत में दान कर देना। दूसरे विश्वामित्र का मृत को जीवित कर देना। परन्तु उच्च आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखने पर इनमें लेशमात्र भी असंभवता दिखलाई नहीं देती।

मनुष्य के भीतर स्थूल इन्द्रियों और मन से भिन्न सूक्ष्म इन्द्रियाँ और सूक्ष्म मन भी होते हैं जिनमें भूत और भविष्य का और दूर के पदार्थों का ज्ञान करने की सामर्थ्य है। हमारी स्थूल इन्द्रियों और मन पर देश और काल का आवरण या व्यवधान होने के कारण इन्हें ये पदार्थ दिखलाई नहीं देते। समाधि में मनुष्य देश और काल की सीमा से परे पहुँच जाता है और यह आवरण या व्यवधान हट जाता है। उस समय उसकी सूक्ष्म इन्द्रिया और सूक्ष्म मन क्रिया करने लगते हैं। उस समय उसे ऐसे मकान

दिखलाई दे सकते हैं जो दस बीस या पचास वर्ष आगे बनने वाले हों, ऐसे ग्राम या देश दिखाई दे सकते हैं जिन्हें उसने अभी तक नहीं देखा हो, ऐसे मनुष्य दिखाई दे सकते हैं जो उससे भविष्य मे मिलने वाले हों, ऐसी घटनायें दिखाई दे सकती हैं जो भविष्य मे होने वाली हों। पातञ्जल योग ने इस स्थिति का भली भान्ति प्रतिपादन किया है[1]। अन्त करण के शुद्ध हो जाने पर निद्रा भी समाधि का रूप धारण कर लेती है और उसमे भी ऐसे ही दृश्य दिखलाई देने लगते हैं। इस अवस्था को श्री अरविन्द ने स्वप्न में अन्तर्दर्शन (Inner Vision in dream) कहा है। अनेक महात्माओं के इस प्रकार के अनुभव की अनेक मनोरंजक घटनायें मिलती हैं। सुकरात ने अपनी मृत्यु से तीन दिन पहले एक श्वेत वस्त्रधारी देवी को देखा था जिसने बहुत स्नेह के साथ उसे कहा था कि तीसरे दिन तुम शरीर परित्याग कर दिव्यलोक मे पहुंचोगे[2]। लेखक ने ऐसे मनुष्य को देखा है जिसने स्वप्न मे किसी व्यक्ति को एक वस्त्र दे दिया। उसने उस व्यक्ति के जागृत मे लेने आने की आशा मे उसे सभाल कर रख दिया। कुछ माह पीछे वह व्यक्ति वस्तुत लेने आ गया और उसने उसे वस्त्र को दे दिया। अत हरिश्चन्द्र जैसे शुद्ध चित्त वाले सत्यवादी राजर्षि के लिये भविष्य में मांगने आने वाले व्यक्ति का स्वप्न मे दिखलाई दे जाना

---

(१) परिणामत्रयसयमादतीतानागत ज्ञानम् ॥३।१६॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥३।२५॥

(२) The third day hence shalt thou fair Phthia reach Hom II IX. 363

असंभव नहीं है, अपितु यह उनकी एक उच्च आध्यात्मिक स्थिति का द्योतक है।

दूसरी बात यह है कि क्या स्वप्न में राज्यदान कर देने मात्र से जागृत में कोई राजा अपने राज्य को दान कर सकता है? इसका उत्तर यह है कि भारतवर्ष में प्राचीनकाल में कई सहस्र वर्षों का ऐसा युग बीता है जिसमें योग का अभ्यास बहुत व्यापक था। जंगल में रहते हुए ब्राह्मण जिस प्रकार योग साधना किया करते थे इसही प्रकार राज्य करते हुए क्षत्रिय राजा और कृषि व्यापार आदि कर्म करते हुए वैश्य भी किया करते थे। ऐसे राजाओं में सूर्यवंश के विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु तथा जनक आदि के नाम गीता मे बतलाये गये हैं। इनके अतिरिक्त कर्दम, दिलीप, भगीरथ, राम आदि ऐसे अनेक राजा हो गये हैं जिन्होंने राज्य-सुख छोड़कर जंगल में तप किया। ये राजा भगवान के आदेश से केवल कर्तव्य भाव से प्रजा के हित को दृष्टि में रखते हुए (लोक संग्रहार्थ) राज्य-शासन का कार्य करते थे, स्वयं अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये नहीं। अतः सूर्यवंश की इस परम्परा में आते हुए हरिश्चन्द्र जैसे शुद्ध अन्तःकरण वाले सत्यवादी के लिए विश्वामित्र जैसे व्यक्ति को, जो कि अपने समय के उत्तम कोटि के ऋषि माने जाते थे, अपने राज्य का दान कर देना असंभव नहीं है। कारण हरिश्चन्द्र यह निश्चित रूप से जानते थे कि विश्वामित्र जैसे ऋषि के हाथों में राज्य-शासन जाने पर — जिन्हें एक ओर राज्य-शासन का पूरा अनुभव है और दूसरी ओर ब्रह्म का अनुभव है — प्रजा का हित मेरे शासन की अपेक्षा अधिक ही होगा।

तीसरी बात है मृत रोहिताश्व के जीवित होने की। डाक्टरों का

कथन है कि सर्प के काटने से मनुष्य अनेक बार मृत जैसा हो जाता है तुरन्त पूरी तरह मर नहीं जाता। विश्वामित्र जैसे कुशल वैद्य के लिए उसे औषधि से जीवित कर देना असंभव नहीं है। इसके अतिरिक्त, एक उच्चकोटि के योगी के लिए अपनी यौगिक शक्ति से मृत को जीवित कर देना असंभव नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण ने अपनी यौगिक शक्ति से परीक्षित को जीवित किया था। श्री अरविन्द ने भी एक बार मृत को जीवित किया है। अतः विश्वामित्र जैसे अपने समय के उच्चतम कोटि के योगी के लिए अपने आत्मिक बल से मृत को जीवित कर देना असंभव नहीं है।

[६]

ईश्वर में विश्वास

महान् वस्तुओं के लिये ईश्वर में विश्वास करो।
होरेस बुशनैल (Horace Bushnel)

सत्य को प्राप्त करने के लिए, अपने आचरण में लाने के लिए अहंकार, कामना, धन आदि का त्याग और हर प्रकार के कष्टों का सहन मनुष्य तब कर सकता है जबकि उसके हृदय में भगवान् में विश्वास हो। कारण सत्य भगवान् का रूप है और सत्य का पालन करना स्वयं भगवान् की इच्छा के अनुसार आचरण करना है, स्वयं भगवान् की सेवा करना है। भगवान् का बल विश्व के समस्त बलों से अधिक है। भगवान् सत्य का पालन करने वालों की, दूसरे शब्दों में स्वयं अपनी सेवा करने वालों की रक्षा स्वयं किया करते हैं और जिसकी भगवान् रक्षा करते हैं उसका कोई भी बाल बांका नहीं कर सकता। अतः एक कवि ने कहा है :

जाको राखै साइयाँ मारि न सकि है कोय।
बार न बांका करि सके जो जग वैरी होय॥

गीता ने भी कहा है :

"नहि कल्याणकृत कश्चिद् दुर्गति तात गच्छति"।

"कल्याणकारी कर्म, शुभ कर्म करने वाला मनुष्य कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता"। हाँ यह बात अवश्य है कि सत्य का पालन करने वाले को अनेक बार प्रारम्भ में कष्ट उठाने पड़ते हैं। किन्तु यह इस कारण है क्योंकि भगवान् के विधान के अनुसार, जैसा भी हमारा यह मानव समाज अभी तक विकसित हो सका है उसमें श्रेष्ठ मनुष्यों के त्याग, कष्ट सहन और बलिदान से ही बढ़े हुए दोषों का विनाश होता है और मानव जाति प्रगति करती है। रावण आदि राक्षसों के अत्याचारों से मानव समाज को मुक्त करने के लिए राम और सीता का वन में जाना और सीता का लंका में राक्षसों के मध्य में रहकर कष्ट भोगना भगवान् के विधान के अनुसार आवश्यक घटनायें थीं। इसही प्रकार देश की रक्षा के लिए अनेक देशभक्त वीरों का त्याग और बलिदान करना अनिवार्य होता है। उनके इस त्याग के परिणामस्वरूप देश को तो लाभ होता ही है किन्तु उन्हें व्यक्तिगत रूप से भी इस जन्म में या दूसरे जन्म में कई गुना अधिक फल अवश्य मिलता है। भगवान् के इस नियम और विधान के बिना और इसमें पूर्ण विश्वास के बिना विश्व में सत्य, न्याय, धर्म, सदाचार स्थिर नहीं रह सकते। जब एक देश-सेवक अपनी आंखों के सामने देश के शत्रुओं से प्रलोभन प्राप्त करके देशद्रोहियों को फूलता-फलता और मौज उड़ाता देखता है तो, यदि उसके भीतर यह दृढ़ विश्वास है कि देशद्रोही का वह

सुख-भोग क्षणिक है, आगे दुख देने वाला है (परिणामे विषमिव) और देश-सेवक का कष्ट भोगना भविष्य मे शुभ परिणाम लाने वाला है (परिणामेऽमृतोपमम्) केवल तभी वह वीरता के साथ त्याग और बलिदान कर सकता है। जब एक व्यापारी झूठा व्यापार करने वालों को धनी होता देखता है तो वह सत्य पर तभी स्थिर रह सकता है जबकि उसे यह विश्वास हो कि असत्य से प्राप्त किया हुआ धन, ऐश्वर्य परिणाम मे सुखदायी नहीं होता। अतः सत्य के पालन के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने भीतर यह दृढ़ विश्वास करे कि सत्य के पालन करने मे प्रारम्भ में कष्ट होने पर भी भविष्य मे कई गुणा अधिक फल भगवान् अवश्य देते हैं। और यदि सत्य का पालन करने मे मृत्यु का भी सामना करना पड़ता है तो यह निश्चय करके उसका सामना करना चाहिये कि भगवान् के विधान मे मेरे बलिदान करने पर ही मेरा और मानव जाति का कल्याण है। यदि वह ऐसे अवसरों पर कष्ट के भय से सत्य के पालन करने मे संकोच करता है तो यह उसका ऐसा दौर्बल्य, गीता के शब्दों मे क्लैब्य, कायरपन है जैसा कि किसी सैनिक का युद्ध के अवसर पर मृत्यु के भय से जान बचाकर भागना। जानना चाहिये कि ऐसे कायर मनुष्य अपने विकास की ऊँची भूमिका पर नहीं पहुँचे हैं। वे मानव समाज के लिए कोई अनुकरणीय ऊँचा आदर्श नहीं उपस्थित कर रहे हैं।

[७]

बल की प्रार्थना

सच्ची प्रार्थना अपने अभीष्ट पदार्थ को या उससे भी किसी

श्रेष्ठतर पदार्थ को अवश्य पाती है।

ट्रायन एडवर्ड (Tryon Edward)

यदि सामान्य मानव-दुर्बलता के कारण सत्य के पालन करने में भय प्रतीत होता हो तो ईश्वर से बल की प्रार्थना करनी चाहिये। सच्चे हृदय से जब किसी महान् पदार्थ के लिए प्रार्थना की जाती है तो ईश्वर की ओर से उसका प्रत्युत्तर अवश्य मिलता है। कारण भगवान् की ओर से सदा ही ज्ञान, बल, आनन्द, शान्ति, अमृतत्व की वर्षा होती रहती है, मनुष्य ही अपने अहंकार-रूपी ढक्कन से अपने द्वार उसके लिए बन्द किये हुए है। जिस प्रकार किसी घड़े का मुख ढक्कन से बद कर देने पर उसमें ऊपर से कोई पदार्थ नहीं प्रवेश कर सकता और ढक्कन के हट जाने पर स्वयं ही प्रवेश कर जाता है, इसही प्रकार जब मनुष्य भगवान् से किसी उत्तम वस्तु के लिए प्रार्थना करता है तो स्वभावतः उसका अहंकार रूपी आवरण हट जाता है और जिस वस्तु को वह चाहता है वह स्वयं ही उसके भीतर प्रवेश कर जाती है। अतः सत्य का पालन करते समय कठिनाइयों का अनुभव करके जब मनुष्य भगवान् से बल की प्रार्थना करता है तो उसे कष्ट-सहन का बल अवश्य मिलता है।

[८]

आत्मसमर्पण

सत्यव्रती को चाहिये कि सत्य का पालन करते समय कष्टों के आने पर उन्हें ईश्वर की ओर से आया हुआ समझकर उसके प्रति, उसकी इच्छा के प्रति आत्मसमर्पण कर दे। उसे यह अनुभव

करना चाहिये कि हम परमात्मा के सम्मुख हैं। वही हमारा जीवन देने वाला और रक्षक है। वही शत्रुता का व्यवहार करने वाले के भीतर भी है। यदि वह सत्याचरण करने में हमारा धन या जीवन लेना चाहता है तो इसमें प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिये।

जो मनुष्य भगवान् और उसके विधान में विश्वास रखकर उससे बल की प्रार्थना करता है और उसकी इच्छा के प्रति आत्म-समर्पण करता हुआ सत्य के पालन करने में आने वाले कष्टों को सहर्ष सहन करता है उसे यह अनुभव होने लगता है कि स्वयं भगवान् ही, अपने एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए, उसे विपत्ति में डालते हैं, वही उसे कष्ट को सहन करने का बल प्रदान करते हैं और फिर समस्त कष्टों से उसका उद्धार करते हैं। उसके साथ आख मिचौनी जैसा खेल खेलते हुए कभी पर्दे के पीछे खड़े मानो सब कुछ देखते रहते हैं और कभी पर्दा दूर हटाकर स्वय प्रकट हो जाते हैं।

प्रह्लाद

इस तथ्य को प्रह्लाद का चरित्र बहुत सुन्दर रूप में प्रकट करता है। हिरण्यकश्यपु नामक एक दैत्यो का राजा था। उसने कठोर तप करके ब्रह्मा से इस वर के लिये प्रार्थना की कि पृथ्वी और आकाश में, दिन और रात्रि में, देव, असुर और मनुष्य कोई भी मुझे न मार सके। इन्द्रादि लोकपालों में जैसी आपकी महिमा है वैसी मेरी भी हो। तपस्वियों और योगियो को जो अक्षय्य ऐश्वर्य प्राप्त है वही मुझे भी प्राप्त हो। ब्रह्मा ने उत्तर दिया, "ये वर मनुष्यों के लिए बहुत दुर्लभ हैं किन्तु फिर भी मैं

तुम्हें प्रदान करता हूँ"। इस वर को प्राप्त करके वह अहंकार से मदान्ध हो गया और अपने आपको ही समस्त विश्व का ईश्वर मानने लगा। हिरण्यकश्यपु के चार पुत्र थे जिनमें प्रह्लाद बहुत गुणी और भगवान् का भक्त था। उन सब को दैत्यराज ने अपने पुरोहित शुक्राचार्य के दो पुत्रों के पास पढने भेजा। उन्हें गुरुपुत्रों ने राजनीति आदि अनेक विद्याएं पढाई। एक बार हिरण्यकश्यपु ने प्रह्लाद को बुलाकर पूछा कि जो कुछ तुमने पढा है उसका सारांश सुनाओ। प्रह्लाद ने उत्तर दिया, "आदि, मध्य और अन्त से रहित, उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय से रहित, एक अच्युत भगवान् सब कारणों के कारण और इस जगत् के उत्पत्ति, स्थिति और अन्त के कारण हैं उनको मैं प्रणाम करता हूँ"।

हिरण्यकश्यपु ने क्रोध में आकर गुरुपुत्रों से पूछा कि तुमने मेरा अपमान करने वाला ऐसा उपदेश क्यों दिया? गुरुपुत्रों ने उत्तर दिया कि राजन्! हमने ऐसा उपदेश नहीं दिया। दैत्यराज ने प्रह्लाद से पूछा कि तुम्हें यह उपदेश किसने दिया है? प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि समस्त जगत् को उपदेश देने वाले एकमात्र भगवान् विष्णु हैं, वे सबके हृदयों में स्थित हैं, उन परमपिता के बिना कौन किसे उपदेश दे सकता है? (विष्णु पुराण १।१७।२०)। हिरण्यकश्यपु ने कहा कि समस्त जगत् का ईश्वर तो मैं हूँ। क्या मेरे सिवाय कोई दूसरा भी ईश्वर है? प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि वह भगवान् मेरा, आपका और समस्त विश्व का उत्पन्न करने वाला, पालन करने वाला और शासक है। पुत्र की इस प्रकार की बातें सुनकर हिरण्यकश्यपु क्रोध में लाल होगया और उसने उसे शस्त्रों से कटवाने का आदेश दिया। शस्त्रों से प्रहार होते समय प्रह्लाद ने

कहा कि "भगवान् तुम मे है, शस्त्रों मे है, और मेरे भीतर भी स्थित है। यह सत्य है और इस सत्य के बल से शस्त्रों का मुझ पर कोई प्रभाव न हो" * ।

योग-दर्शन ने लिखा है कि सत्य बोलने वाले की वाणी अमोघ हो जाती है (अमोघाऽस्य वाग्भवति)। वह अपने या दूसरों के लिए जैसा सोचता है वैसा ही हो जाता है (सत्य प्रतिष्ठायां सर्वक्रियाफलाश्रयत्वम्)। अत सत्य-वक्ता प्रह्लाद के वचन के प्रभाव से उस पर शस्त्रों को प्रहार होते हुए भी उसे लेशमात्र भी पीडा नहीं हुई। इसके अनन्तर हिरण्यकश्यपु ने उसे हाथी के पैरों तले गिरवा कर रौंदवाया। परन्तु इससे भी प्रह्लाद का कुछ नहीं बिगडा और हाथियों के दांत टूट गये। यह देखकर प्रह्लाद ने कहा कि वज्र के समान कठोर जो हाथियों के दांत टूट गये हैं यह मेरा प्रभाव नहीं है अपितु भगवान् के स्मरण का प्रभाव है†। इसके अनन्तर उसे अग्नि में जलाने के लिए उसके चारों ओर लकडियों का ढेर लगा दिया और उन दानवों ने उसे अग्नि से प्रदीप्त कर दिया। परन्तु उसे वे लकडियां कमल के बिछौने के समान कोमल और अग्नि की लपटें शीतल

---

* विष्णु शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थित ।
दैतेयास्तेन सत्येन माऽऽक्रमन्तु आयुधानि मे ॥
(वि० १।१०।३४)

† दन्ता गजाना कुलिशाग्रनिष्ठुरा,
शीर्णा यदेते न बल ममैतत् ।
महाविपत्-तापविनाशनोऽय ,
जनार्दनानुस्मरणानुभाव ॥ (वि० १।१७।४४)

अनुभूत होने लगीं* । इसके अनन्तर उसे हलाहल विष का पान कराया गया । उसे भी वह पचा गया और उसकी कोई क्षति नहीं हुई । फिर हिरण्यकश्यपु ने उसके विनाश के लिए पुरोहितों को बुला कर राक्षसी उत्पन्न करने का आदेश दिया । पुरोहितों ने राक्षसी उत्पन्न कर दी । राक्षसी ने बालक के कोमल हृदय में वज्र के समान कठोर शूल से प्रहार किया, परन्तु उसके हृदय से टकरा कर वह शूल टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़ा और वहां ऐसी अग्नि प्रकट हो गई कि जिसमें सब पुरोहित और वह राक्षसी जल गये। प्रह्लाद ने भगवान् से प्रार्थना करके पुरोहितों को जीवित कर दिया। पुरोहितों ने जीवित होकर उसे दीर्घ-आयु होने का आशीर्वाद दिया।

हिरण्यकश्यपु ने इस आश्चर्य को देखकर प्रह्लाद से पूछा कि तेरा यह प्रभाव मन्त्रादिजनित है या स्वाभाविक है ? प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि यह न तो मन्त्रादिजनित है और न स्वाभाविक है । जिस किसी के हृदय में भगवान् रहते हैं उसका यह सामान्य प्रभाव है। जो अपने समान दूसरों के लिये दुष्ट कर्म करने का विचार मन में नहीं लाता, हे पिता जी ! उसके ऊपर दूसरा व्यक्ति दुष्ट कर्म नहीं कर सकता † ।

---

* तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि,
न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम् ।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि,
शीतानि सर्वाणि दिशां मुखानि ॥ वि० १।१७।४७॥

† न मन्त्रादिकृतं तात न च नैसर्गिको मम ।
प्रभाव एष सामान्यो यस्य यस्याच्युतो हृदि ॥१।१९।४॥
अन्येषां यो न पापानि चिन्तयत्यात्मनो यथा ।
तस्य पापागमस्तात हेत्वभावान्न विद्यते ॥१।१९।५॥

यह सुनकर हिरण्यकश्यपु फिर क्रोध से आग बबूला हो गया। उसने प्रह्लाद को पर्वत के ऊपर से गिरवाया। परन्तु उसे पृथ्वी ने जगत् को धारण करने वाली माता के समान अपनी कोमल गोद में ग्रहण कर लिया और उसकी लेशमात्र भी क्षति नहीं हुई[1]।

इसके अनन्तर प्रह्लाद गुरु के घर चला गया। फिर किसी दूसरे समय हिरण्यकश्यपु ने प्रह्लाद को बुलाकर पूछा कि मित्र, शत्रु और मध्यस्थ के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए? प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि एकही भगवान् समस्त जीवों के रूप में विद्यमान हैं। तब फिर शत्रु और मित्र का भेद कैसा? देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति आदि समस्त चराचर एक ही भगवान् के रूप हैं, इस प्रकार सब को भगवान् का रूप, सबको अपना आत्मा जानकर, सबके साथ अपने आत्मा के समान व्यवहार करना चाहिये[2]।

प्रह्लाद के ऐसे वचन सुनकर हिरण्यकश्यपु को फिर क्रोध आ गया और उसने उसे पहले लात से मारा और फिर नागपाशों मे

---

(१) पतमान जगदधात्री जगदधातरि केशवे।
भक्तियुक्त, दधार एन उपसगम्य मेदिनी॥
वि० १।१६।१३॥

(२) सर्वभूतात्मके तात! जगन्नाथे जगन्मये।
परमात्मनि गोविन्दे मित्रामित्र कथा कुत ॥१।१६।३७॥
देवा मनुष्या पशव पक्षिवृक्षसरीसृपा।
रूपमेतदनन्तस्य विष्णोर्भिन्नमिव स्थितम् ॥१।१६।४७॥
एतद्विजानता सर्वं जगत्स्थावरजगमम्।
द्रष्टव्यमात्मवत् विष्णु यतोऽय विश्वरूपधृक् ॥१।१६।४८॥
वि० पु०

आत्मवत्सर्वभूतेषु य पश्यति स पण्डित॥

बंधवाकर समुद्र में गिरवा दिया। इससे भी जब प्रह्लाद का कुछ न बिगड़ा तो उसने प्रह्लाद को बुला कर पूछा कि यदि तेरा विष्णु सर्वत्र है तो इस खम्बे में क्यों नहीं दिखाई देता? मैं अभी तेरा सिर धड़ से अलग किये देता हूँ। यदि वह तेरा भगवान् है तो आज तेरी रक्षा करले? ऐसा कह कर वह तलवार निकालकर प्रह्लाद को मारने के लिये झपटा। उसने बहुत बल के साथ स्तंभ को मुक्का मारा। इससे ऐसा भीषण शब्द हुआ मानो ब्रह्माण्ड फट गया हो। उस स्तंभ में से ही मानो अपने भक्त के वचनों को सत्य प्रमाणित करने के लिए नृसिंह-रूपधारी भगवान् प्रकट हो गये। उन्होंने हिरण्यकश्यपु को पकड़कर अपने नखों से उसका संहार कर दिया* और सिंहासन पर जाकर विराजमान हो गये।

* शस्त्र प्रहार, हाथी के पैरों तले रौंदे जाने, अग्नि में जलाये जाने, पहाड से गिराये जाने, समुद्र में डुबाये जाने जैसे भयंकर अत्याचारों के होते हुए भी प्रह्लाद सुरक्षित रहे— यह बात साधारण पाठकों को असंभव जान पड़ेगी। किन्तु यदि मनुष्य की आन्तरिक स्थिति ऐसी है कि वह प्रत्येक वस्तु में भगवान् की दृष्टि बनाये रख सकता है तो उस पर किसी भी संकट का प्रभाव नहीं पड़ता। श्री माता जी ने कहा है:

"There are many legends, stories, as that of Prahlad, for example, illustrating this state of consciousness. I myself had quite a tangible experience that if, in the presence of an enemy, a bad will, any danger, one can remain in that condition and see the Divine in everything, the danger will have no effect, the bad will will not touch you and the enemy will be transformed or run away. It is a clear fact. I tell you your

प्रह्लाद ने उनके चरणों में प्रणाम करते हुए उनकी स्तुति की। नृसिंह भगवान् ने उसे गोद में लेकर उसे दिये जाते हुए कष्टों में अपने विलम्ब से आने के कारण क्षमा मांगते हुए कहा :

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्।
क्व ताः प्रमत्तकृत दारुणयातनास्ते॥
आलोचित विषयमेतदभूतपूर्वम्।
क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः॥

"हे वत्स! कहां तो तुम्हारा यह कोमल शरीर और यह तुम्हारी सुकुमार अवस्था और कहां इस उन्मत्त दैत्य द्वारा तुम्हें दी गई भीषण यातनायें? यह एक अभूतपूर्व घटना है। मेरे आने में जो विलम्ब हुआ हो उसके लिए मुझे क्षमा करना। ऐसा कह कर नृसिंह भगवान् अन्तर्धान हो गये। प्रह्लाद गद्दी पर बैठे और उन्होंने सत्य और न्याय के साथ राज्य करते हुए प्रजा को सन्मार्ग में प्रवृत्त किया। अतः उपनिषदों ने कहा है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा॥ मु० ३।१।५

यह परमसत्य रूप परमात्मा व्यावहारिक सत्य रूप तप से, सत्य के बल से प्राप्त होता है।

फारसी का प्रसिद्ध कवि शेख सादी लिखता है

रास्ती मूजिब रजाये खुदा मस्त।
कस ने दीद के गुमशुद अज रहे रास्त॥

---

enemy will be able to do nothing to you, if it does any thing it will be only a sign that the state of consciousness in which you are is not sufficiently pure and complete

(Advent August 1958)

सचाई भगवान् के समीप पहुचने का मार्ग है। किसी ने कभी यह नहीं देखा कि सत्य के मार्ग में चलने वाला कोई भटक गया हो।

इसही भाव को उर्दू के एक कवि ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है :

> रास्ती[1] सीधी सड़क है इसमें कुछ खटका नहीं।
> कोई रहरू[2] आज तक इस राह में भटका नहीं॥

"ऐसा प्राय: होता है कि जो लोग सत्य के मार्ग में आने वाली इस प्रकार की विपत्तियों का सामना करते हैं उनके लिए अन्त में सब बातें सुलभ हो जाती हैं, यद्यपि प्रारंभ में ऐसा प्रतीत नहीं होता। जिसका निवास असत्य में है वह (हिरण्यकश्यपु आदि के समान) मानव जाति का शत्रु है। असत्य की सफलता सदा अस्थाई होती है, बल्कि अधिकतर तो सत्य कहना ही चतुर बनने का सर्वोत्तम साधन है[3]।"

---

(१) सच्चाई (२) यात्री (३) सुन्दर कहानियाँ

चौथी प्रभा

मानव जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में सत्य

जैसा कि पहले कहा जा चुका है– जैसा मनुष्य का ज्ञान हो उसके अनुसार ठीक-ठीक भाव देने का सकल्प रखना मन का सत्य और तदनुसार वचन बोलना वाणी का सत्य और तदनुसार कर्म करना सत्यकर्म या सत्याचार कहलाता है। खान, पान, खेती, व्यापार, वकालत, चिकित्सा, गवाही, न्याय, मित्रता, भेंट, भक्ति आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में सत्य और असत्य देखा जा सकता है। पावभर की भूख होने पर केवल स्वादवश डेढपाव खाना मिथ्याचार है। यह जानते हुए कि तम्बाकू, सिगरेट, गाजा, अफीम, शराब आदि का सेवन करना हानिकारक होता है, इनका सेवन करना या इनकी खेती या व्यापार करना मिथ्याचार है। यह जानते हुए कि प्रातःकाल घूमना और व्यायाम करना स्वास्थ्य के लिये लाभदायक हैं, आलस्यवश बिस्तरे पर पडे रहना, ठीक समय पर न उठना मिथ्याचार है। डाक्टर का फीस या औषधि की बिक्री के लोभ से रोगी के रोग को बढा-चढाकर कहना या उसे नीरोग करने मे जान-बूझ कर विलम्ब करना मिथ्याचार है। किसी सस्था की ओर से प्रतिनिधि बनकर किसी विशेष समारोह मे जाते समय तीसरी श्रेणी का टिकट लेना और प्रथम या द्वितीय श्रेणी का किराया वसूल करना मिथ्याचार है। बिना टिकट रेल मे यात्रा करना मिथ्याचार है। मन्त्रियो का ट्रेन से यात्रा करना और सरकारी कोष से कार का किराया वसूल

करना मिथ्याचार है। सरकारी कर्मचारी का घूस लेकर किसी को अनुचित लाभ पहुंचाना या किसी अन्य व्यक्ति का घूस देकर अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करना मिथ्याचार है।

[१]

सच्चा व्यापार

सच्चा व्यापार वह होता है जिसमे व्यापारी निम्नलिखित बातों को अपने आचरण में लाता है।

(१) जैसा सामान ग्राहक को देने का वचन देता है वैसा ही देना चाहिये, न घटिया न कम।

यदि कोई दूकानदार किसी ऐसे कपड़े को जो भीतर से कटा है, बेचते समय ग्राहक को यह नहीं बतला देता कि वह कटा है तो उसका यह व्यवहार मिथ्याचार है।

आम या सन्तरे बेचने वाला यदि ग्राहक को नमूने के रूप में मीठा दिखाता है और फिर जान-बूझ कर खट्टे दे देता है तो यह उसका आचरण मिथ्या है।

अनाज की ढेरी पर या बोरी मे दिखाने के लिये ऊपर बढ़िया माल और नीचे घटिया रखना मिथ्याचार है।

दूध मे पानी या सप्रेटा, घी में वनस्पति मिलाना मिथ्याचार है।

दो प्रकार के बाट रखकर तोल मे अधिक लेना और देते समय कम देना मिथ्याचार है।

(२) माल बेचते समय यदि ग्राहक को क्रय का भाव बतलाना हो तो अधिक नहीं बतलाना चाहिये।

(३) आढ़ती के लिए मोल लिए या बेचे हुए माल का भाव उसे अधिक या कम नहीं बतलाना चाहिये।

(४) जिस समय माल देने का वादा करता है उस ही समय पर देना चाहिये।

(५) किसी व्यक्ति से रुपया उधार लेते समय यह जानते हुए कि मैं अमुक समय पर नहीं दे सकूंगा उस समय देने का वचन देना मिथ्याचार है।

(६) यह जानते हुए कि सिगरेट, अफीम, गांजा, मदिरा आदि पदार्थ हानिकारक हैं इनका व्यापार करना मिथ्याचार है।

(७) यह जानते हुए कि माल चोरी का है उसका मोल लेना या बेचना मिथ्याचार है।

(८) किसी संस्था की ओर से सामान लेते या बेचते समय बीच में अपना कमीशन नहीं लेना चाहिये।

(६) अच्छे माल को बट्टा काटने की दृष्टि से घटिया नहीं बतलाना चाहिये।

(१०) ग्राहक की अज्ञानता का अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिये। यदि कोई बालक भी सामान लेने आता है तो उसे भी उसही भाव पर देना चाहिये जिस पर कि एक कुशल अभिज्ञ ग्राहक को दिया जा सकता है।

(११) सामान बेचते समय ग्राहक की परिस्थिति का अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिये। उदाहरण-स्वरूप, यदि किसी बीमार को अचानक किसी ऐसी औषधि की आवश्यकता पड़ जाती है जो

दूसरे स्थान पर न मिल सकती हो तो इस कारण उसके दाम नहीं बढ़ाने चाहियें।

(१२) यदि किसी वस्तु का ऐकाधिपत्य प्राप्त कर लिया गया है तो उसके मूल्य इतने अधिक नहीं बढ़ाने चाहियें कि जिससे ग्राहक का शोषण हो।

(१३) अपने साझीदारों से कोई बात नहीं छिपानी चाहिये और निष्कपट भाव से जैसा निश्चय हुआ था वैसा ही ठीक ठीक बटवारा कर देना चाहिये।

(१४) यदि दूकान का बीमा कराया है तो व्यापार में हानि होने पर अथवा सामान को चालाकी से अलग करके उसमें जान बूझकर आग नहीं लगानी चाहिये।

(१५) यदि कोई व्यक्ति किसी बीमा कम्पनी का संचालक है तो अपने किसी मित्र की हानि हो जाने पर या आग लग जाने पर माल का पीछे की तिथियों में बीमा कराकर उसे अनुचित लाभ नहीं पहुचाना चाहिये।

(१६) व्यापार में जो लाभ मिलता है उसे अपना न समझकर भगवान का मानना चाहिये और कम से कम में अपना काम चलाकर शेष को दया, समाज और भगवान की सेवा में लगा देना चाहिये।

बम्बई प्रान्त के एक सेठ

अभी कुछ ही वर्षों की, संभवतः सन् १६१० के आस-पास की बात है कि बम्बई प्रान्त में एक करोड़पति सेठ रहते थे। वे पढ़े

लिखे तो बहुत न थे किन्तु उन्हे वेदान्त सुनने की बहुत रुचि रहती थी। वे प्रात काल घूमने जाते और मार्ग मे वेदान्त की चर्चा सुना करते थे। उनके स्थान पर प्रात काल ११ बजे तक नित्य वेदान्त की चर्चा हुआ करती थी। सायंकाल के समय भी जब वे घूमने जाते थे तो विद्वानों के साथ सत्संग होता रहता था। एक दिन प्रात काल वे दो विद्वानों के साथ घूमकर लौट रहे थे। मार्ग मे एक बुढ़िया गोबर का भारी टोकरा रखे किसी सहायक की प्रतीक्षा कर रही थी। उसने सेठ जी को लम्बे से शरीर का देखकर उनसे सहायता की प्रार्थना की। उन्होंने शीघ्रता से आगे बढ़ कर टोकरा उठवा दिया और कोट की जेब से रुमाल निकाल कर हाथ पोछ लिये। उनके साथियों ने कहा कि आपने इतनी शीघ्रता क्यों की, हम तो उसे उठवाने जा ही रहे थे। सेठ जी ने उत्तर दिया कि मेरे लिये यह कोई नई बात नहीं है। बचपन मे मैं यही कार्य किया करता था। उन विद्वानों ने कौतूहलवश पूछा कि यह कैसे? सेठ जी कुछ मुस्कराकर अपने बचपन की कहानी सुनाने लगे। उन्होंने कहा कि जहाँ मैं इस समय रहता हूँ वहाँ एक सेठ रहते थे। जब उनके कोई सन्तान न हुई तो उन्होंने अपने मुनीम से कहा कि किसी अच्छे से लड़के को ढूढो जिसे गोद ले लिया जाय। मुनीम सयोगवश हमारे गॉव मे पहुँचा। उस समय मैं कुछ साथियों के साथ गोबर उठा रहा था। मुनीम हमसे बातचीत करने लगा। मेरी बातो मे उसे कुछ ऐसा भोलापन और आकर्षण जान पड़ा कि वह मुझे यहाँ ले आया। कुछ समय बाद उन सेठ जी का देहान्त हो गया। मैंने कुछ लोगों से धन लेकर सम्मिलित पूँजी से एक व्यापार किया, किन्तु उसमे घाटा हुआ। मैंने अपने साथियो से परामर्श

किया कि अब क्या करना चाहिये ? उन्होंने कहा कि सब हानि को समान रूप में बांट कर भुगतान कर दो। मुझे यह अच्छा न लगा। मैंने सबका पूरा-पूरा धन देकर सारा घाटा अपने ऊपर उठा लिया। कुछ दिन बीत जाने पर मैंने फिर दूसरा व्यापार करने का विचार किया। इस समय वे लोग दुगुनी पूँजी लेकर आये और हमने व्यापार प्रारम्भ कर दिया। इस बार हमें बहुत लाभ हुआ और धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते यह दशा हो गई कि अनेक मिलें बन गईं। सेठ जी ने ५० लाख रुपयों के दान से अनेक सामाजिक संस्थाओं का निर्माण किया है। राजनीतिक कार्यों में भी उन्होंने काफी धन दिया है।

यद्यपि सेठजी के लिये हानि को समान रूप में बांट देना असत्याचरण नहीं कहा जा सकता किन्तु यह उनके हृदय की कुछ गहरी सत्यता थी जो उन्होंने सारी हानि को अपने ऊपर उठा लिया और सब को पूरा पूरा धन दे दिया* ।

रायचन्द भाई

महात्मा गांधी के ऊपर जिन महान् व्यक्तियों का प्रभाव पड़ा उनमें एक रायचन्द भाई भी थे। गांधीजी के शब्दों में : "रायचन्द भाई स्वयं हजारों का रोजगार करते, हीरे-मोतियों की परख करते, व्यापार की समस्यायें हल करते पर उनका विषय यह नहीं था। उनका विषय, उनका पुरुषार्थ तो आत्मा की पहिचान, हरिदर्शन था। उनकी गद्दी पर और कोई वस्तु हो या न हो पर कोई न कोई धर्म-

* यह सच्ची घटना है। लेखक के पास इसका पूरा प्रमाण विद्यमान है।

पुस्तक और रोजनामचा तो होता ही था। रोजगार की बात समाप्त होते ही धर्म-पुस्तक अथवा उक्त नोट बुक खुल जाती। जो व्यक्ति लाखों के सौदे की बात करने के बाद तुरन्त आत्मज्ञान की गूढ़ बातें लिखने बैठ जाय उसकी जाति व्यापारी की नहीं अपितु शुद्ध ज्ञानी की है। जब भी मैं उनकी दुकान पर पहुंचता मुझसे धर्म-चर्चा के सिवाय दूसरी बात न करते। उनके बहुत से वचन सीधे मेरे अन्तर मे उतर जाते। उनकी बुद्धि के लिए मेरे मन में आदर था। उनकी सचाई के लिये भी उतना ही आदर था और इसलिए मैं जानता था कि वे जान-बूझ कर मुझे गलत मार्ग मे नहीं ले जायेंगे और जो उनके मन मे होगा वही कहेंगे। इससे मैं अपने आध्यात्मिक संकट मे उनका आश्रय लिया करता था"। (आत्मकथा)

रायचन्द भाई बम्बई में जवाहरात का व्यापार किया करते थे। उन्होंने एक व्यापारी से सौदा किया। यह निश्चित हो गया कि अमुक तिथि तक अमुक भाव में इतने जवाहरात वह व्यापारी देगा। व्यापारी ने रायचन्द भाई को सब लिख कर दे दिया।

संयोगवश जवाहरात के भाव बढ़ने लगे और इतने अधिक बढ़ गये कि यदि रायचन्द भाई को उनके जवाहरात वह व्यापारी दे तो उसे अपने घर तक को नीलाम करना पड़े।

रायचन्द भाई को जवाहरात के वर्त्तमान बाजार भाव का पता चला तो वे उस व्यापारी की दूकान पर पहुचे। उन्हें देखते ही व्यापारी चिन्तित हो गया। उसने कहा— "मैं आपके सौदे के लिए स्वयं चिन्तित हू। चाहे जो हो, वर्तमान भाव के अनुसार जवाहरात के घाटे के रुपये मैं आपको अवश्य दे दूँगा, आप चिन्ता न करें"।

रायचन्द भाई बोले— "मैं चिन्ता क्यों न करूं ? तुमरं जब चिन्ता लग गई है तो मुझे भी चिन्ता होनी चाहिये। ह दोनों की चिन्ता का कारण यह लिखा-पढ़ी है। इसे समाप्त क दिया जाय तो दोनों की चिन्ता समाप्त हो जायगी।" व्यापारी कहा— "ऐसा नहीं। आप मुझे दो दिन का समय दें, मैं रुप चुका दूंगा"।

रायचन्द भाई ने लिखा-पढ़ी के कागज के टुकड़े २ करते हु कहा— "इस लिखा-पढ़ी से तुम बंध गये थे। बाजार भाव बढ़ने मेरा चालीस-पचास हजार रुपया तुम पर लेना हो गया। किन्तु तुम्हारी परिस्थिति को जानता हूँ। ये रुपये मैं तुमसे लूँ तो तुम्हा क्या दशा होगी ? रायचन्द दूध पी सकता है खून नहीं पी सकता"

उस व्यापारी ने रायचन्द भाई के पैरों पर गिर कर कहा— "आप मनुष्य नहीं देवता हैं"।

सच्चा व्यापारी वही होता है जो दूसरे की परिस्थिति को देख सच्ची हार्दिक सहानुभूति रखता हुआ नफा लेता है। जिस अपना रुपया चाहिये, यदि उसके पास देने को कुछ भी नहीं है बजाय उससे लेने के उसे और देकर सहायता करता है।

गुरु नानक

गुरु नानक बचपन से साधु-प्रेमी थे। उनके घर पर मिरासी (भाट) रहता था जिसका नाम था मरदाना। उसने गुरु से कहा कि ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा संवत् १५४१ को पाकपटन बाबा फरीद का मेला है उसे देखने चलो, मैं भी आपके स चलूंगा। गुरु नानक मेला देखने चले गये और तीन दिन

मेला देखकर लौटे। उनके पिता कल्याणराय ने सोचा कि मेरे पुत्र को साधु संगत की बहुत रुचि रहती है, कहीं ऐसा न हो कि यह साधु हो जाय, इसलिए इसे किसी व्यापार-धन्धे में लगा देना चाहिये। उन्होंने नानकदेव जी को बुलाकर कहा— "बेटा! अब तुम बड़े हो गये हो, कुछ व्यापार करो जिसमें खूब लाभ हो। देखो खूब सोच समझकर सच्चा सौदा करना जिसमें अन्त में घाटा न पड़े"। नानकदेव जी ने उत्तर दिया— "पिताजी! बहुत अच्छा"। कल्याणराय ने कुछ रुपये देकर एक जाट जाति के बाला नामक व्यक्ति को उनके साथ कर दिया और लाहौर की ओर भेज दिया। नानकदेव जी घर से चलकर चूहड़काने नामक ग्राम में पहुचे। वहाँ उन्होंने एक साधुओं के समुदाय को ठहरे देखा। समीप जाकर उनके दर्शन किये और प्रसन्न हुए। उन्हें वहाँ किसी से पता चला कि ये साधु तीन दिन से भूखे हैं, इन्हें अभी तक अन्न नहीं मिला है। नानकदेव जी को यह जानकर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने उन रुपयों को, जो पिता ने सच्चा सौदा मोल लेने के लिये दिये थे, निकालकर भाई बाला को दिया और कहा कि इन सब की भोजन बनाने की सामग्री ले आओ। भाई बाला शहर में जाकर आटा दाल घृत आदि सामग्री मोल ले आया। उन सब साधुओं ने तृप्त होकर भोजन किया। गुरु जी घर की ओर लौट गये। कल्याणराय को जब इस सौदे का पता चला तो वे नानकदेव जी पर क्रुद्ध होकर उन्हें रायबुलार नामक हाकिम के पास ले गये और उन्हें सौदे का हाल कहा। नानकदेव जी ने कहा— "पिताजी आपने आज्ञा दी थी कि बहुत सच्चा और लाभ वाला सौदा मोल लेना, आपने किसी विशेष वस्तु का नाम तो लिया नहीं था। मुझे अनेक भूखे सन्तों

को भोजन खिलाकर उनके प्राण बचाने मे जो शान्ति और आनन्द मिला उसे ही मैंने सच्चा और अधिक लाभ वाला सौदा समझा और इसलिए वही मोल ले लिया"। नानकदेव जी के इस उत्तर को सुनकर रायबुलार कुछ मुस्कराया। उसने कल्याणराय को कहा कि "महता जी! आप कब तक इस कामिल (पूर्ण) आमिल (कार्यान्वयी) अमीर (धनी) से देखकर रहोगे। हमने तो तुम से पहले ही कह दिया है कि यह जो भी रुपया व्यय करे हमारे नाम लिख दिया करो अथवा निःसंकोच भाव से हमारे खजाने से तभी मंगवा लिया करो, किन्तु इसके चित्त को कष्ट न पहुचाया करो"।

दोब्रीवे

दोब्रीवे की पढाई समाप्त हो गई। उसके पिता ने उससे कहा "बेटा! तुम्हारी पढाई समाप्त हो गई है। अब तक तुम बहुत अच्छे साहसी, बुद्धिमान और परिश्रमी विद्यार्थी रहे। मुझे तुम्हारी योग्यता पर विश्वास है। अब तुम कोई धन्धा करो"।

दोब्रीवे प्रसन्नता के साथ माता पिता को प्रणाम करके एक जहाज को व्यापार-योग्य वस्तुओं से भर कर व्यापार के लिये चल पडा। मार्ग में एक तुर्की जहाज दिखाई दिया। उसके समीप आने पर उसने लोगों का चिल्लाना सुना। दोब्रीवे ने कप्तान से पूछा— "भाई तुम्हारे जहाज मे लोग क्यों रो रहे हैं? लोग भूखे हैं या बीमार हैं"?

तुर्क कप्तान ने उत्तर दिया— "नहीं ये बन्दी हैं। इन्हें दास बनाकर हम बेचने के लिये लेजा रहे हैं"। दोब्रीवे ने कहा– "ठहरो, हमारा सामान ले लो और उसके बदले मे इन्हें मुझे ही बेच दो"।

तुर्क कप्तान ने देखा कि दोम्नीचे का जहाज व्यापार-योग्य पदार्थों से भरा हुआ है। उसने कैदियों सहित अपना जहाज उसे दे दिया और पदार्थों सहित उसका जहाज ले लिया। दोम्नीचे तुर्की जहाज लेकर चल पड़ा। उसने उन सब वन्दियों से उनके देशों के पते पूछ-पूछ कर उन्हें उनके अपने-अपने देश मे पहुचवा दिया। परन्तु जहाज मे एक सुन्दर लड़की और एक बुढ़िया भी थी। दोम्नीचे ने उनसे भी पता पूछा। लड़की ने कहा कि "मैं रूस के राजा ज़ार की पुत्री हूँ और यह बुढ़िया मेरी दासी है। मेरा घर लौटना कठिन है इसलिए मैं कहीं विदेश मे ही मजदूरी करके अपनी रोटी कमाना चाहती हूँ"।

दोम्नीचे ने कहा "देवी! यदि तुम मुझसे विवाह करलो तो तुम्हें किसी बात की कमी न रहेगी"।

लड़की उस युवक के रूप रंग और चरित्र को देखकर मुग्ध हो गई और उसने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

दोम्नीचे का जहाज उसके घर के पास के बन्दरगाह पर पहुचा। उसका पिता उससे मिलने आया। पिता ने पूछा- "बेटा! कहो इस व्यापार में क्या कमाकर लाये हो?" दोम्नीचे ने उत्तर दिया— "पिताजी! इतने दुःखी व्यक्तियों के कष्टों को दूर करके उनकी आत्माओं के आशीर्वाद को कमाकर लाया हूँ और साथ मे ऐसी गुणवती सुन्दर दुलहिन है। यह कमाई सैंकड़ों जहाजों के मूल्य से अधिक है।" पिता यह सुनकर अप्रसन्न हुआ और उसने दोम्नीचे को बहुत बुरा-भला कहा।

कुछ समय पीछे दोम्नीचे के पिता ने यह सोचकर कि लड़का

अब अधिक होशियार हो गया है उसके लिये दूसरा व्यापारी जहाज तैयार करवाया।

दोर्मीने जहाज लेकर चला। एक बन्दरगाह पर दोर्मीने ने देखा कि कुछ सिपाही कुछ मनुष्यों को बन्दी बना रहे हैं और उनके बच्चे उन्हें देखकर रो रहे हैं। उसने इसका कारण पूछा तो पता चला कि उनपर राज्य की ओर से कोई नया टैक्स लगाया गया है जिसे वे नहीं दे सकते, इसलिए वे बन्दी बनाये जा रहे हैं। दोर्मीने ने अपने जहाज का सारा सामान बेचकर वह टैक्स चुका दिया और उन लोगों को छुड़वा दिया।

दोर्मीने घर पर लौटा तो पिता ने फिर वही प्रश्न किया: "बेटा! इस बार व्यापार में क्या लाभ रहा"? दोर्मीने ने उत्तर दिया— "पिताजी! इतने अधिक व्यक्तियों को कष्टों से मुक्त करने में जो मुझे अद्भुत शान्ति और आनन्द मिला है वही लाभ लाया हूँ और यह लाभ हजारों जहाजों के धन से अधिक है"।

यह सुनकर उसका पिता और भी अधिक क्रुद्ध हुआ। उसने उसे और उसकी स्त्री को घर से निकाल देना चाहा किन्तु आसपास के व्यक्तियों के समझाने बुझाने से उसका क्रोध शान्त होगया।

तीसरी बार पिता ने फिर दोर्मीने को जहाज देकर भेजा और धन नष्ट न करने की पूरी तरह चेतावनी देदी। दोर्मीने अपने जहाज को लेकर एक दूर देश में पहुँचा। वहां उतर कर उसने देखा कि एक मनुष्य राजाओं जैसी पोशाक पहने उसकी ओर बड़े ध्यान से देख रहा है। पास आने पर उस मनुष्य ने दोर्मीने से पूछा कि

यह अंगूठी मेरी लड़की की अंगूठी से मिलती जुलती है, आपने इसे कहाँ पाया ?

दोब्रीवे की बातें सुनकर जार और उसके मंत्री को विश्वास हो गया कि खोई हुई लड़की दोब्रीवे की स्त्री है। जार ने दोब्रीवे को अपनी स्त्री के साथ अपने देश में चलने के लिए आमंत्रित किया और उसे अपना आधा राज्य देने का वचन दिया। उसने अपने मंत्री को उसके साथ भेज दिया।

दोब्रीवे अपने माता पिता और स्त्री को लेकर जहाज में बैठकर रूस चलने लगा। परन्तु मंत्री को उससे ईर्ष्या हो गई। उसने सोचा कि यदि मैं इसे मार देता हूँ तो यह स्त्री मुझे ही अपना पति बना सकती है और फिर मैं ही आधे राज्य का स्वामी बनूंगा। उसने ऐसा अवसर पाकर कि जिसमे किसी और को इसका पता न चल सके दोब्रीवे को समुद्र में धकेल दिया। दोब्रीवे ने किनारे पर आने के लिये हाथ पैर मारे। सौभाग्य से एक लहर ने उसे किनारे लगा दिया। परन्तु उसने देखा कि वह जहाँ पहुंचा है वह एक ऐसी ऊंची चट्टान है कि जहाँ से कहीं और जाना असंभव है। वह तीन दिन भूखा ही रहा। चौथे दिन उसे नौका में जाता हुआ एक नाविक दिखाई दिया। दोब्रीवे ने उसे बन्दरगाह पर पहुंचाने की प्रार्थना की। नाविक ने उसे इस शर्त पर बन्दरगाह पर पहुंचाना स्वीकार किया कि बन्दरगाह पर जो कुछ भी मिलेगा उसका आधा उसे भी दिया जायगा। दोब्रीवे के पास प्राण बचाने के लिए इस शर्त को मानने के सिवाय और कोई चारा न था। अतः उसने "सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः" बुद्धिमान् मनुष्य सर्वनाश

होता देखकर आधा त्याग देता है इस प्राचीन वचन को स्मरण करके नाविक की इस शर्त को मान लिया।

नाविक की नौका बन्दरगाह पर पहुँची। दोत्रीव राजमहल में पहुँचा। जार के आनन्द का ठिकाना न रहा। दोत्रीवे की कहानी सुनकर जार ने मत्री को दण्ड देने का निश्चय किया। किन्तु दोत्रीवे ने राजा से प्रार्थना करके उसे क्षमादान करवा दिया। दोत्रीवे की उदारता देखकर जार ने अपना सारा राज्य उसे दे दिया और अपना शेष जीवन भगवान् की भक्ति में व्यतीत करने का निश्चय किया।

जिस दिन दोत्रीवे को राज-मुकुट पहिनाया गया वह बूढ़ा नाविक उसके सामने उपस्थित हुआ। उसने कहा— "सरकार! आपने मुझे आधा भाग देने का वचन दिया था, क्या आप भूल गये"?

दोत्रीवे ने उसका स्वागत किया और कहा— "हाँ महाशय! आपने विपत्ति के समय मेरे जीवन की रक्षा की है। मैं आपका बहुत ऋणी हूँ। आइये राज्य का मानचित्र देखकर हम आधा-आधा बाटले और चलकर खजाने को भी बाटले"। बूढ़े नाविक ने उत्तर दिया—"दोत्रीवे! सच्चा व्यापारी वही है जो अपने सर्वस्व को दूसरों के दु:खों के दूर करने में लगा देता है। ऐसा करने वालों को भगवान् अनन्त गुना अधिक नफा देते हैं। मैं कुछ कार्यवश बाहर जा रहा हूँ। जब तक मैं लौट कर न आऊ तब तक आपही मेरे इस आधे राज्य का भी प्रबन्ध करें और इसकी सम्पूर्ण आय दीन, दुखिया की सेवा में, देश और समाज की उन्नति में, सदाचार की वृद्धि में,

भगवान् की सेवा मे लगाते रहिये। याद रखिये— यह मेरा है, इसकी आय का एक पैसा भी आपको अपने सुख-भोग में व्यय करने का अधिकार नहीं है"। यह कहकर वह नाविक वेशधारी तपस्वी, देवदूत अन्तर्धान हो गया।

दोग्रीने ने उस सम्पूर्ण राज्य को भगवान् की देन माना और वह स्वयं त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुये न केवल अर्धराज्य की अपितु सम्पूर्ण राज्य की आय को प्रजा मे सत्य और सदाचार का प्रचार करते हुए प्रजा के हित मे, भगवान् की सेवा मे लगाता रहा।

सच्चे मनुष्य के जीवन मे चाहे वह व्यापारी हो या चाहे कुछ और, एक समय ऐसा अवश्य आता है जबकि वह अपने धन को लेशमात्र भी अपना नहीं मानता। वह जानता है कि यह भगवान् का है और भगवान् की ही सेवा मे इसका विनियोग होना चाहिये। अत जब भी वह किसी को कष्ट मे देखता है या किसी श्रेष्ठ कार्य के लिए आवश्यक समझता है तो अपनी व्यक्तिगत चिन्ता को छोडकर ईश्वर पर विश्वास रखता हुआ अपने सर्वस्व को उस कार्य मे लगा देता है। सच्चे महापुरुष अहंकार और व्यक्तिगत कामनाओं से अतीत होते हैं। अत उनका सर्वस्व देश, समाज और भगवान की सेवा मे लगा रहता है।

[८]

सच्ची कमाई

सच्ची कमाई वह होती है जो परिश्रम करते हुये, बिना किसी व्यक्ति को धोखा दिये, यथाशक्ति दूसरो को लाभ पहुँचाते हुये प्राप्त की जाती है। यदि किसी को दूसरे मनुष्य की खोई हुई वस्तु

मिलती है तो वह उसे अपनी नहीं मानता अपितु उसके स्वामी के पास पहुचाने का प्रयत्न करता है। यदि उसके स्वामी का पता न चले तो किसी धार्मिक या सामाजिक सेवा के कार्य में उसका उपयोग करता या कराता है, अपने कार्य में नहीं लाता। जो भी धन उसे अपने परिश्रम से प्राप्त होता है उसका यथासंभव दशम अंश या कम से कम बीसवाँ अंश भगवान् की सेवा के भाव से किसी समाज, राष्ट्र या धर्म के ऐसे कार्य में लगाता है जिसमें उसका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ या लाभ नहीं होता। गहरी सचाई आने पर मनुष्य अपनी संपूर्ण कमाई को भगवान् का प्रसाद मानता है और अपने सम्पूर्ण धन को यज्ञ रूप में समाज की, राष्ट्र की, भगवान् की सेवा में ही लगा देता है।

नानकदेव जी

एक बार नानकदेव जी अपने उत्तम-उत्तम विचारों का प्रचार करते हुए लाहौर में एमनाबाद नामक एक नगर में पहुचे। वहाँ सबसे पहले उनके पास एक बढई आया जिसका नाम लालू था। वह प्रसिद्ध साधुसेवी भक्त था। उसे देखकर दूसरे भक्त भी आने लगे। नानकदेव जी का भोजन पहले ही दिन से लालू भक्त के घर होने लगा। इस बात को सुनकर वहाँ के क्षत्रिय लोग नानकदेव जी के ऊपर यह आक्षेप करने लगे कि ये क्षत्रिय होकर शूद्र के घर की रोटी खाते हैं— यह अच्छा नहीं करते। परन्तु नानकदेव जी ने इस पर ध्यान नहीं दिया।

उसही ग्राम में नवाब महलखाँ और दीवान भागू भी रहते थे। उनके अत्याचारों से लोग बहुत दुखी थे। ये बड़े अभिमानी

थे। एक दिन उनके यहाँ ब्रह्मभोज था। उन्हें नानकदेव जी की प्रतिष्ठा का पता था। उन्होंने उन्हें ब्रह्मभोज में निमन्त्रित किया किन्तु नानकदेव जी वहा नहीं गये। यह देखकर नवाब और दीवान दोनो रुष्ट हो गये। उन्होंने नानकदेव जी को अपने दरबार में बुलाकर कहा कि तुम बडे अभिमानी फकीर हो। लालू जैसे शूद्र के घर मे कोदा की रोटी खाते हो और हमारे यहा की कचौरी मिठाई का तिरस्कार करते हो।

यह सुनकर गुरु नानकदेव जी ने कहा कि लालू भक्त की रोटी परिश्रम, सेवा और सच्चाई की है और तुम्हारी अत्याचार और बेईमानी की है। परिश्रम और दूसरो की सेवा से प्राप्त की हुई रोटी दूध से भरी होती है और अत्याचार, झूठ और बेईमानी से प्राप्त अन्न की रोटी रक्त से सनी हुई होती है। यह सुनकर दीवान बहुत क्रुद्ध हो गया। उसने नानकदेव जी से कहा कि तुम्हारा यह कथन सरासर झूठ है। यदि यह सत्य है तो इसका प्रमाण दो नहीं तो तुम्हे दण्ड मिलेगा। नानकदेव जी ने कहा कि अच्छा! अपने घर से रोटी मगा कर परीक्षा करलो। दोनो घरो से रोटी के टुकडे मगाये गये। नानकदेव जी ने दोनो भागो को अलग-अलग हाथों में लेकर दबाया। सबने आश्चर्य के साथ देखा कि दीवान के घर की रोटी में रक्त की धार और लालू भक्त की रोटी मे दूध की धार निकली।

(इतिहास गुरु खालसा)

बादशाह नासिरुद्दीन

नासिरुद्दीन नामक एक बादशाह देहली के सिंहासन पर शासन करता था। उसने १२४६ से १२६६ तक राज्य किया। वह बहुत

संयमी और पवित्र आचरण वाला था। ईश्वर भक्त था। उसका लेख बहुत सुन्दर था। वह कुरान अपने हाथों से लिखा करता था और उसे बेच कर जो आय होती उससे ही अपना भोजन वस्त्रादि का व्यय चलाता था। उसके घर पर खाना पकाने के लिए कोई नौकर नहीं था, उसकी स्त्री स्वयं भोजन पकाया करती थी। एक बार खाना पकाते हुए उसका हाथ जल गया। उसने नासिरुद्दीन से कहा कि खाना बनाने के लिए कोई नौकरानी होती तो मेरा हाथ न जलता। नासिरुद्दीन ने उसे उत्तर दिया कि मैं तो पुस्तकें लिख-कर धनोपार्जन करता हूँ, इसमें नौकरानी रखना कैसे संभव है? राज्यकोष पर तो मेरा कोई अधिकार नहीं है। वह तो प्रजा का है। यदि मैं उसमें से एक पैसा भी लूंगा तो मैं चोर बनूंगा। अत जितनी मेरी आय है उसके अनुसार ही व्यय करना उचित है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात कहाँ तक ठीक है यह निर्णय कर सकना तो कठिन है, किन्तु एक सच्चे राजा के लिए ऐसा करना संभव और उचित है।

महात्मा गान्धी

महात्मा गाँधी जब दक्षिणी अफ्रीका में वहाँ के भारतीयों की कठिनाइयों को दूर करने के लिये सत्याग्रह आन्दोलन करने गये तो उन्होंने सार्वजनिक सेवा का कार्य करते हुए अपने निजी कार्यों के लिये जनता से धन लेना उचित न समझा। इसके लिये उन्होंने अपना वकालत का अलग उद्योग किया। अत वे लिखते हैं: "मैंने अपने मन में निश्चय कर रखा था कि सार्वजनिक पैसे पर न रहूँगा। मुझे दिखाई दिया कि मेरी गृहस्थी में सालाना ३००

पौंड से कम मे नहीं चल सकता, अत मैंने निश्चय किया कि इतने पैसे का वकालत का काम देने की हामी भरी जाय तभी मैं रह सकता हूँ और उन लोगों को यह बता दिया"।

साथियों ने कहा— "लेकिन इतने पैसे आप सार्वजनिक सेवा के लिए लें तो यह हम सहन कर सकेंगे। इतने पैसे इकट्ठे कर देना हमारे लिये सरल है। वकालत से जो कुछ मिले वह आपका होगा"।

मैंने उत्तर दिया— "मैं इस तरह पैसे नहीं ले सकता। मैं अपने सार्वजनिक काम का इतना मूल्य नहीं आंकता। मुझे उसमे वकालत तो करनी न होगी। मुझे तो आप लोगों से काम लेना है, उसके पैसे कैसे लिये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक कार्यों के लिये मुझे आप लोगों से पैसे लेने पड़ेंगे। अगर मैं अपने लिये पैसे लूँ तो आप लोगों से बड़ी रकमे निकलवाने मे मुझे सकोच होगा और अन्त मे हमारी गाडी अटक जायगी। समाज से तो मैं साल मे ३०० पौण्ड से अधिक ही व्यय कराने वाला हूँ"।

"परन्तु आपको अब हम पहिचानने लगे हैं। आपको अपने लिये पैसे कहाँ मागने हैं? आपके रहने का व्यय तो हमे देना ही चाहिये"।

गान्धी जी ने कहा— "सार्वजनिक सेवा के लिये मैं पैसे कदापि नहीं ले सकता। आप सब लोग अपना वकालत का काम मुझे देने का वादा करदे तो मेरे लिये पर्याप्त है। यह भी कदाचित् आपको भारी पड़े। मैं कोई गोरा बैरिस्टर तो हूँ नहीं। न्यायालय मेरा समर्थन करेगा या नहीं इसका भी मुझे क्या पता? मैं कैसी

वकालत कर सकूगा यह भी में नहीं जानता। अत मुझे पहले से वकालत का पारिश्रमिक देने में भी आपको जोखम उठानी है। फिर भी आप मुझे वकालत का मेहनताना देंगे तो वह मेरी सार्वजनिक सेवा के नाते ही तो माना जायगा"।

इस विचार का परिणाम यह निकला कि कोई बीस व्यापारियों ने उन्हें अपना वकालत का कार्य देना स्वीकार कर लिया जिसके द्वारा वे दक्षिणी अफ्रीका में अपना निर्वाह चलाते थे और शेष सपूर्ण समय, अधिकतर समय समाज सेवा का कार्य किया करते थे जिसका वे कुछ भी पारिश्रमिक नहीं लेते थे।

अब्राहम लिंकन

अब्राहम लिंकन एक बार पोस्ट मास्टरी का कार्य किया करते थे। पोस्ट आफिस के रुपयों को वे अलग ही रखा करते थे और चाहे जितनी भी आवश्यकता क्यों न पड़े उसे अपने कार्य में नहीं लाते थे। उन्होंने जब पोस्ट मास्टरी छोड़ी तो उनके पास कुछ पैसे बच गये। इनका कोई हिसाब नहीं मिला अत ये सरकारी कोष में जमा भी कैसे कराते? उन्होंने उस राशि को एक पुड़िया में बाधकर अपनी टोपी में रख लिया। अनेक बार ऐसे अवसर आये कि उन्हें बहुत आर्थिक कष्टों में बीतना पड़ा किन्तु उन्होंने उस पुड़िया को हाथ नहीं लगाया। अनेक वर्षों के अनन्तर, जबकि वे वकील हो गये थे तो डाकघर के किसी अधिकारी की निगाह इस भूल पर पड़ी और यह निश्चित हुआ कि यह राशि अब्राहम लिंकन से वसूल की जानी चाहिये। एक मनुष्य सारा हिसाब लेकर अब्राहम लिंकन के पास भेजा गया। वे इस समय

एक मुकदमे के कागज देख रहे थे। हिसाब देखकर उन्होंने अपनी टोपी में से वह पुड़िया निकाल कर दे दी। यह देखकर उस अधिकारी को बहुत आश्चर्य हुआ।

अब्राहम लिंकन एक पैसा भी बेईमानी का अपने पास न रखते थे। जो कुछ अपने परिश्रम से आता उसे ही अपना मानते थे और उसमें भी जितना ये अपना पारिश्रमिक समझते, यदि कोई उससे अधिक देता तो लौटा देते थे।

[३]

सच्ची वकालत

आजकल प्रायः यह देखा जाता है कि झूठा या सच्चा जो भी अभियोग वकीलों के पास आता है वे उसे स्वीकार करके अनेक प्रकार के झूठे तर्कों से सच्चा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं जिसके परिणामस्वरूप न्यायाधीशों के लिये उन तर्क-वितर्कों के जाल में से सत्य को छांट निकालना असंभव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य हो जाता है। इस कारण अनेक बार निरपराध व्यक्तियों को दण्ड मिल जाता है और अपराधी छूट जाते हैं। मनु जी ने कहा है कि जो राजा अदण्डनीय पुरुषों को दण्ड देता है और दण्डयोग्य पुरुषों को दण्ड नहीं देता वह बहुत अपयश को प्राप्त होता है और नरक को जाता है*। इस पाप कर्म में सहायता देने वाले वकील लोग ही हैं। सच्चा वकील वह होता है जो :

---

*अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥८।१२८॥

(१) सच्चा अभियोग स्वीकार करता है और झूठे को छोड़ देता है।

(२) दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करता है।

(३) परिश्रम के अनुपात से यथासंभव कम फीस लेता है।

(४) अभियोगार्थियों से पहले पूरी फीस नहीं लेता। यदि पूरी फीस लेता है तो अन्त तक पूरे परिश्रम से कार्य करता है।

(५) बिलकुल सच्चे तर्क उपस्थित करता है लेशमात्र भी तोड़ मरोड़ नहीं करता।

(६) यदि कोई बात अपनी समझ में न आवे तो अभियोगार्थी को कह देता है और उसे यह अवसर देता है कि वह चाहे तो अपनी अपेक्षा किसी श्रेष्ठ वकील को नियुक्त करले अथवा दूसरे श्रेष्ठ वकील से परामर्श करले।

अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन और भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी में ये बातें बहुत कुछ दिखलाई देती हैं।

अब्राहम लिंकन

अब्राहम लिंकन का जन्म १८०६ ई० में उत्तरी अमेरिका की केन्ट नामक रियासत में हुआ था। ये बचपन से ही सत्य प्रिय थे। जैसा मन में होता वैसा ही वाणी से कहते और वैसा ही आचरण करते थे।

वकालत के विषय में इनके कुछ निश्चित सिद्धान्त थे जिनका वे पूरी सचाई से पालन किया करते थे। वकीलों को सम्बोधन करते हुए वे कहा करते थे, "जब भी संभव हो सके अपने पड़ौसियों

को समझौते के लिये बाध्य करो। उन्हें सुझाओ कि किस प्रकार प्रकट में जीत का सेहरा बांधने वाला वस्तुतः हारता है, खोता है, समय और धन दोनों ही नष्ट करता है। शान्ति स्थापक के नाते वकील के लिये यह एक अच्छा खासा व्यवसाय है"।

"मुकदमेबाजी को पनपने का अवसर ही न दो। जो ऐसा करता है वह निकृष्टतम मनुष्य है। सामान्यतया अपनी पूरी फीस पहले से मत लो, केवल उतनी ही फीस पहले लो कि जिससे कि अभियोगार्थी तुमसे बंधा रहे। यदि पहले ही सारी फीस ले ली जाती है और उसके बाद भी तुम्हारे मन मे अभियोग के प्रति ऐसी रुचि और भावना बनी रहती है कि मानो तुम्हें अपने अभियोगार्थी से अभी भी कुछ प्राप्त होना शेष है तो तुम सामान्य मनुष्य से कुछ अधिक हो"।

अब्राहम लिंकन सदा अभियोगों को सच्चा जानकर ही स्वीकार करते थे और यदि उन्हें बीच में यह पता चल जाता था कि यह अभियोग मिथ्या है तो सफलता और पर्याप्त धन मिलने की पूरी आशा होने पर भी वह तुरन्त उसे छोड़ देते थे।

एक बार कचहरी में आते समय एक अभियोग में अचानक उन्हें एक ऐसा तथ्य मिला जो उनके लिये नया था किन्तु जिस-कारण उन्हें अभियोग का विवरण देना उचित न जंचा। वे अपने स्थान पर लौट गये। न्यायालय में अभियोग उपस्थित हुआ परन्तु अब्राहम अनुपस्थित रहे। जज ने उनके पास सन्देश भेजा। अब्राहम ने उत्तर भेजा, "जज से कहदो कि मैं अपने हाथ धो रहा हूँ"।

एक अभियोगार्थी को जिसकी सफलता की आशा बहुत अधिक

थी उन्होंने कहा— "मैं तुम्हारे अभियोग को जितवा सकता हूँ। पर यदि मैं ऐसा करूंगा तो मैं एक ईमानदार परिवार पर सकट लाने का अपराधी बनूंगा, और ऐसा करने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। ऐसा करने की अपेक्षा मैं तुम्हारे अभियोग और तुम्हारी फीस को अस्वीकार करना ही अधिक पसन्द करता हूँ। बिना कोई फीस लिये ही मैं तुम्हे एक सम्मति देना चाहता हूँ— घर जाओ और छै सौ डालर कमाने का कोई और अधिक सच्चा प्रकार खोज निकालो"।

इस प्रकार की सत्य-निष्ठा के निर्णय वहाँ की जनता की भावना से मेल नहीं खाते थे। इसही कारण लिंकन को पचीस वर्ष की आयु मे विक्षिप्त की उपाधि मिली थी और पैंतीस वर्ष की आयु में वे पूरी तरह विक्षिप्त माने जाने लगे थे। परन्तु न्यायाधीशों के मस्तिष्क पर इनकी युक्तियां और इनके वक्तव्यों की सचाई की धाक बैठ जाती थी। ये प्राय निर्दोष सताये जाने वाले व्यक्तियों का पक्ष ग्रहण किया करते थे।

अब्राहम लिंकन बहुत साधारण फीस लेते थे। वे अपनी फीस का हिसाब कभी मुकदमे के आधार पर नहीं करते थे अपितु अपने परिश्रम के आधार पर। एक होटल के मालिक ने कुछ आवश्यक कानूनी कागज तैयार करने के लिए उन्हे पचीस डालर दिये तो लिंकन ने कहा— "तुम सोचते होगे कि मैं कोई ऊँची फीस वाला वकील हूँ। जान पडता है कि तुम पैसा खर्च करने के मामले मे बहुत उदार हो, इस काम के लिये पन्द्रह डालर काफी होगा। मैं तुम्हें दस डालर लौटाये दे रहा हूँ"।

अब्राहम लिंकन ने वकालत में हेर्नडन को अपना साभी बनाया था जो कि उनसे आयु में १० वर्ष छोटा था। लिंकन उसे पुत्र के समान समझते थे। परन्तु जब भी कार्य का पारिश्रमिक आता तो वे बैंक के नोटों को दो भागों में विभक्त करके कहते—"लो यह तुम्हारा भाग है" और यह बात तब भी बनी रही जबकि उनकी ख्याति बढ़ गई और उनकी आय कई गुना अधिक हो गई।

महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी वकालत करते समय सदा सच्चा ही अभियोग लेते थे और जहाँ तक भी बन पड़ता दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करते थे। पोरबन्दर के एक फर्म के मालिक सेठ अब्दुल्ला का एक ४० हजार पौंड का अभियोग चल रहा था। प्रतिपक्षी थे उनके ही एक रिश्तेदार भाई सेठ तैयब। अभियोग में सेठ अब्दुल्ला की ओर से गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका गये। इस अभियोग के विषय में महात्मा गाँधी इस प्रकार लिखते हैं: "दादा अब्दुल्ला के मुकदमे की तैयारी करते समय मैं तथ्य की महिमा इतनी है, यह जान पाया था। तथ्य का अर्थ है सच्ची बात। सचाई का पल्ला पकड़े रहने से कानून अपने आप हमारी सहायता को आ जाता है।

"मैंने तो अन्त मे यह भी देख लिया कि मेरे मवक्किल का मुकद्मा बहुत मजबूत है। कानून को उसकी सहायता करनी ही चाहिये।

"पर मैंने देखा कि मुकद्मा लड़ने मे दोनों पक्ष, जो एक दूसरे के रिश्तेदार हैं और एक ही शहर के रहने वाले हैं, बरबाद हो जायेंगे। मुकद्मे के अन्त का किसी को पता नहीं। कचहरी में

तो वह चाहे जितना लम्बा किया जा सकता है। उसके लम्बा होने मे दोनों में से एक का भी लाभ न होगा।

"तैयब सेठ से मैंने अनुरोध किया। आपस मे झगड़ा निवटा लेने की सलाह दी। उन्हें अपने वकील से मिलने को कहा। किसी ऐसे आदमी को पंच चुनलें जिस पर दोनों का विश्वास हो तो मामला झटपट निबट जाय। वकीलों का व्यय इतना बढ़ता जा रहा था कि उसे चुकाने मे बड़े व्यापारी की भी बधिया बैठ जाय। दोनों ऐसे जी जान से मुकदमा लड़ रहे थे कि एक भी निश्चिन्त होकर दूसरा कोई काम न कर सकता था। परस्पर में वैर भी बढ़ता जा रहा था। मुझे वकालत के धन्धे से घृणा हुई। वकील के नाते दोनों पक्षों का काम यही था कि एक दूसरे को जीतने के लिए कानूनी नुक्ते ढूँढ़ निकाले। यह बात मैंने पहले पहल इस मुकदमे मे ही जानी कि जीतने वाले को कुल खर्चा कदापि नहीं मिल सकता। पक्ष से ली जा सकने वाली कानूनी फ़ीस का एक हिसाब होता है, मवक्किल और वकील के बीच का हिसाब दूसरा होता है। यह सब मुझे असह्य लगा। मुझे अपना धर्म दोनों रिश्तेदारों मे मेल करा देना ही जान पड़ा। समझौता करा देने के लिये मैंने जी जान से प्रयत्न किया। तैयब सेठ मान गये। अन्त में पंच चुना गया। मुकदमा चला। दादा अब्दुल्ला जीत गये।

"पर इतने से मुझे सन्तोष न हुआ। तैयब सेठ ३७००० पौंड की डिग्री और व्यय एक साथ न दे सकते थे। उन्हें एक दमड़ी कम भी न देना था, न दिवाला ही निकालना था। मार्ग एक ही था—दादा अब्दुल्ला उन्हें पर्याप्त लम्बी अवधि दें। दादा अब्दुल्ला ने

उदारता दिखलाई और खूब लम्बी अवधि देदी। पंच-चुनाव मे मुझे जितना परिश्रम करना पडा उससे अधिक यह लम्बी अवधि दिलाने मे करना पडा। दोनो पक्षो को प्रसन्नता हुई। दोनों की प्रतिष्ठा मे वृद्धि हुई। मेरे सन्तोष की सीमा न रही। मैंने सच्ची वकालत करना सीखा, मनुष्य स्वभाव का उज्ज्वल पक्ष ढूँढ निकालना सीखा, मनुष्य हृदय मे पैठना सीखा। मैंने सीखा कि वकील का कर्तव्य पक्षो के बीच मे खुदी हुई खाई को भरना है। इस शिक्षा ने मेरे मन मे ऐसी जड जमाई कि मेरी बीस साल की कमाई का अधिक समय अपने दफ्तर मे बैठे सैकडों मुकदमो मे समझौता कराने मे ही बीता। इसमे मैंने कुछ खोया नहीं। पैसे के घाटे मे रहा यह भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा तो नहीं ही गवाई।

"मैं विद्यार्थी अवस्था मे भी सुनता था कि वकालत के धन्धे मे झूठ बोले बिना नहीं चल सकता। मुझे झूठ बोलकर न तो पद लेना था और न पैसा। इसलिये इन बातों का असर मुझ पर न पडता था।

"दक्षिण अफ्रीका मे इसकी परीक्षा बहुत बार हुई थी। मैं जानता था कि प्रतिपक्षी के गवाह सिखाये हुए हैं और मैं तनिक भी मवक्किल या गवाह को झूठ बोलने को उत्साहित कर दूं तो मवक्किल का मुकदमा डिग्री हो जायगा। पर मैंने सदा इस लोभ को दूर रक्खा। ऐसे एक ही अवसर का मुझे स्मरण है जबकि मवक्किल का मुकदमा जीतने के बाद मुझे यह सन्देह हुआ कि मवक्किल ने मुझे धोखा दिया है। मेरे अन्तर मे सदा यही रहता था कि यदि मवक्किल का मुकदमा सच्चा हो तो वह जीत जाय और झूठा

हो तो हार जाय। पारिश्रमिक लेने में मैंने हारजीत पर पारिश्रमिक की दर कभी ठहराई हो, इसका स्मरण मुझे नहीं है। मवक्किल चाहे हारे या जीते मैं तो सदा पारिश्रमिक ही माँगता था और जीत होने पर भी उसकी की आशा रखता था। मवक्किल से पहले ही कह देता था—झूठा अभियोग हो तो मेरे पास मत आना। गवाह को सिखाने-पढ़ाने की तो मुझसे आशा ही न रखना। अन्त में मेरी साख तो ऐसी होगई कि झूठे मुकदमे मेरे पास आते ही न थे। ऐसे मवक्किल भी मेरे पास थे जो अपने सच्चे मामले तो मेरे पास लाते थे और जिनमें ज़रा भी खोट ख़राबी होती थी उन्हें दूसरे वकील के पास ले जाते थे"।

× × ×

एक बहीखाते की उलझन वाले मुकदमे में अदालत के चुने हुए हिसाब-किताब जानने वाले पंच को उसका हिसाबी भाग सौंपा गया था। पंच के निर्णय में गाँधी जी के मवक्किल की पूरी जीत थी, परन्तु उसके हिसाब में एक भूल रह गई थी। जमा खर्च की रकम पंच के दृष्टिकोण से इधर की उधर लेली गई थी। मवक्किल की ओर से गान्धी जी छोटे वकील थे। बड़े वकील ने पंच की भूल देखी थी, पर उनका मत था कि पंच की भूल मानना मवक्किल का कर्त्तव्य नहीं है। गान्धी जी ने कहा कि इस मुकदमे में जो भूल है वह स्वीकार की जानी चाहिये। बड़े वकील ने कहा—"ऐसा होने पर इस बात का पूरा डर है कि अदालत सारे निर्णय को ही रद्द कर दे और ऐसी जोखिम में मवक्किल को कोई चतुर वकील नहीं डालेगा। मुकदमा फिर से चलाना पड़े तो मवक्किल कितने खर्च में पड़ेगा और कौन कह सकता है कि अन्तिम परिणाम क्या

होगा" ? गान्धी जी ने कहा— "मैं तो समझता हूँ कि मवक्किल को और हमें दोनों को यह जोखिम तो उठानी ही चाहिये और हमारे स्वीकार न करने पर भी अदालत भूल भरे निर्णय को भूल मालूम होने पर बहाल रखेगी, इसी का क्या भरोसा है ? और भूल सुधारने में मवक्किल को हानि उठानी भी पड़े तो क्या हर्ज है" ?

भूल स्वीकार करने की स्थिति में बड़ा वकील बहस करने को तैयार न हुआ और भूल स्वीकार न करने पर गान्धी जी तैयार न हुए। अन्त में मवक्किल ने गाँधी जी से कहा, "ठीक है, तब आप ही अदालत में पैरवी करें। भूल स्वीकार करलें। हारना भाग्य में होगा तो हार जायेंगे। सच्चे का रक्षक तो राम है न" ?

गान्धी जी ने मुकदमे की पैरवी करते समय उस भूल को बतलाया। पहले तो न्यायाधीश उसके विपरीत हुआ किन्तु अन्त में उसने उस भूल को सुधार कर पंच के निर्णय को स्वीकार कर लिया।

गान्धी जी के शब्दों में "मेरे हर्ष की सीमा न रही। मवक्किल और बड़े वकील प्रसन्न हुए और वकालत के काम में भी सत्य की रक्षा करते हुए कार्य सिद्ध हो सकता है, मेरी यह धारणा दृढ़ हो गई"।

"एक अवसर तो ऐसा आया कि जब विचाराधीन मुकदमे में मैंने देखा कि मेरे मवक्किल ने मुझे ठगा था। उसका मुकदमा झूठा था। वह कटघरे में खड़ा काँप रहा था मानो गिर पड़ता हो। इससे मैंने मैजिस्ट्रेट को मवक्किल के विरुद्ध निर्णय देने को कहा

श्रौर बैठ गया। प्रतिपक्षी का वकील दंग रह गया। मैजिस्ट्रेट प्रसन्न हुआ। मवक्किल को मैंने उलाहना दिया। उसे पता था कि मैं झूठे मुकदमे नहीं लेता। उसने यह बात स्वीकार की और मैं मानता हूँ कि मैंने विरुद्ध निर्णय मागा इससे वह अप्रसन्न नहीं हुआ। जो हो, पर मेरे वर्ताव का बुरा प्रभाव मेरे धन्धे पर नहीं हुआ और अदालत मे मेरा काम सरल हो गया। मैंने यह भी देखा कि मेरी इस सत्य पूजा से वकील वन्धुओं मे मेरी प्रतिष्ठा वढ गई और विचित्र सयोगों के होते हुए भी उनमे से कितनों की प्रीति मैं सपादन कर सका था"।

"वकालत करते हुए मैंने एक आदत यह भी डाल ली थी कि अपना अज्ञान मैं न मवक्किल से छिपाता था न वकीलों से। जहाँ-जहाँ मैं समझ न पाता वहाँ-वहाँ मवक्किल को दूसरे वकील के पास जाने को कहता था। यह मुझे रखे तो अधिक अनुभवी वकील से सलाह लेकर कार्य करने को कहता था। इस सरल व्यवहार के कारण मवक्किलों का मैं असीम प्रेम और विश्वास प्राप्त कर सका था"।

रुस्तम जी सेठ चुँगी की बहुत दीर्घकाल से चोरी किया करते थे। एक बार वह पकड़ी गई। अभियोग चलने वाला था और जेल होने की संभावना थी। गाँधी जी ने कहा— "पर मुझे तो जिस चोरी के विषय मे वे नहीं जानते उसे भी स्वीकार करना पड़ेगा। मैं सोचता हूँ कि जो दण्ड वे ठहरायें उसे स्वीकार कर लेना चाहिये। बहुत करके तो वे मान जायेंगे पर कदाचित न मानें तो जेल के लिए तैयार रहना होगा। मेरा तो मत है कि लज्जा जेल

जाने मे नहीं है अपितु चोरी करने में है। लज्जा का काम तो हो चुका। जेल जाना पड़े तो उसे प्रायश्चित्त समझियेगा। सच्चा प्रायश्चित्त तो अब आगे चुंगी की चोरी न करने की प्रतिज्ञा करने में है"।

अन्त में गाँधी जी के कहने से चोरी स्वीकार करली गई। "रुस्तम जी पर मुकद्मा नहीं चला। उनकी स्वीकार की हुई चुंगी की चोरी के दूने रुपये लेकर मुकद्मा उठा लेने का आदेश निकल गया"।

"रुस्तम जी ने अपनी चुंगी-चोरी की कहानी लिखकर शीशे मे मंढवाली और अपने दफ्तर मे टाँग कर अपने वारिसों और साथी व्यापारियों को चेतावनी दी"।

(आत्मकथा)

[४]

सच्ची गवाही

सच्ची गवाही वह होती है जबकि मनुष्य किसी भी पक्षपात के विना, अपने भाई, बन्धु, मित्र, देश, जाति या धर्म के पक्षपात के विना, जैसा उसका ज्ञान हो ठीक उसही रूप मे कहता है। गवाह को उसके देने मे कष्ट मिलता हो तो वह उससे विमुख नहीं होता, यदि न देने मे धन मिलता हो तो उस लोभ मे नहीं फंसता। अपना कर्त्तव्य समझकर जैसा वह जानता है वैसा ही कहता है। यदि वह देखता है कि उसके गवाही देने पर दूसरे पक्षवाले अनुचित लाभ उठावेंगे तो मौन हो जाता है चाहे इसके परिणाम-स्वरूप उसे कितना भी कष्ट क्यों न उठाना पड़े।

अब्बास अहमद

उत्तर प्रदेश के एक उपनगर में एक मुसलमान भक्त रहता था जिसका नाम अब्बास अहमद था। इसके सम्बन्ध मे यह प्रसिद्ध था कि यह कभी भी झूठ नहीं बोलता, बहुत पवित्र जीवन बिताता है, रोज़े रखता है, नमाज़, कुरान पढता है, खुदा की खूब इबादत करता है इत्यादि। इस उपनगर में बहुत दीर्घकाल से गोहत्या नहीं होती थी, न कोई नदी मे मछली मार सकता था और न कोई शिकार ही खेल सकता था। हिन्दू और मुसलमानो में कभी २ त्यौहारों के अवसरों पर मन-मुटाव सा हो जाता था अन्यथा वे मेल से ही रहते थे। एक बार यहाँ मुसलमानों ने गोहत्या करदी। हिन्दुओं ने उन पर अभियोग चलाया और अब्बास अहमद को गवाह बनाया। मुसलमानो को जब यह पता चला तो उन्होंने उसे समझा बुझाकर गवाही देने से रोकने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि यदि तुझे अदालत में जाना पड़े तो यह कह देना कि गोकशी पहले से होती आई है। अब्बास अहमद ने पूछा क्या यह बात सत्य है कि पहले से गोकशी होती रही है?

मुसलमानों ने कहा कि सत्य हो या न हो तुझे तो अपने मज़हब की हिफाज़त के लिए यही कहना चाहिये।

अब्बास अहमद— मैं झूठ बोलने में मज़हब की हिफाज़त नहीं समझता। खुदा ने मज़हब के लिये झूठ बोलने को नहीं कहा।

मुसलमानों ने कहा— अगर यह साबित हो गया कि गोकशी पहले नहीं होती थी तो हमें दण्ड भुगतना पड़ेगा। जितना जुर्माना

हम पर हो सकता है १००), २००), ४००) तू ही ले ले। कम से कम आगे के लिये तो रास्ता साफ हो जायगा। अब्बास अहमद ने कहा, "१००), २००), ४००) रुपयों की तो बात ही क्या अगर झूठ बोलने पर मुझे बहिश्त भी मिलती हो तो मैं उसे भी लात मारने को तैयार हूँ"। अब्बास अहमद लेशमात्र भी अपने व्रत से च्युत नहीं हुआ। अन्त में कचहरी में उपस्थित होने का दिन आया। मैजिस्ट्रेट ने उससे पूछा :

मैजिस्ट्रेट—अब्बास अहमद! क्या तुम इस गोकशी के विषय में कुछ जानते हो?

अब्बास अहमद—जी हाँ जानता हूँ।

मैजिस्ट्रेट—क्या यहां ईद के अवसर पर गोकशी हुई है?

अब्बास अहमद—जी हाँ हुई है।

मैजिस्ट्रेट—कितनी गायों की हुई है?

अब्बास—दो गायों की।

मैजिस्ट्रेट—क्या तुम्हारे ज्ञान में पहले भी कभी हुई है?

अब्बास—हुजूर! जब से मैंने होश संभाला है मैंने होते हुये नहीं देखा, न सुना।

यह सुनकर मैजिस्ट्रेट ने गोकशी करने वालों को दण्ड दिया और आगे के लिए न करने का आदेश दिया।

हिन्दुओं ने अब्बास अहमद को अनेक भेंटें देना चाहा किन्तु उसने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि सत्य की सच्ची भेंट तो खुदा है। उसही के लिए मैंने सत्य बोला है। इसलिए मैं कोई भेंट

नहीं लूँगा। मुसलमानों ने उसे अनेक प्रकार के कष्ट दिये, किन्तु उसने उनकी भी परवाह नहीं की। वह खुदा के प्रेम में उन्हें भी प्रेमपूर्वक सहन करता रहा*।

विपिनचन्द्रपाल

सन् १६०७ में स्वर्गीय श्री विपिनचन्द्रपाल 'वन्दे मातरम्' नामक एक अंग्रेजी पत्र प्रकाशित किया करते थे जिसके वही सम्पादक थे। जिस समय श्री अरविन्द ने राजनीति में पदार्पण किया तो उन्होंने संपादन का कार्य श्री अरविन्द को सौंप दिया। तबसे उसकी नीति के वही संचालक रहे। उनका नाम भी एकदिन संपादक रूप में छपा था किन्तु तुरन्त श्री अरविन्द ने उसे रोक दिया था। उसमें छपे 'संपादक के नाम पत्र' और दूसरे बंगाली पत्र 'युगान्तर' में छपे एक लेख के अनुवाद के कारण सरकार ने श्री अरविन्द को सम्पादक मानकर उनपर अभियोग चलाया। सरकार ने विपिनचन्द्रपाल को गवाही देने के लिये बुलाया। विपिनचन्द्रपाल यह जानते थे कि श्री अरविन्द ही उसके सम्पादक हैं। परन्तु वे यह भी अनुभव करते थे कि श्री अरविन्द जिस कार्य को कर रहे हैं वह कोई अपराध नहीं है अपितु एक महान कार्य है। यह ३३ करोड़ मनुष्यों को बन्धन-मुक्त करने का प्रयत्न है। सरकार जो इन्हें इस कार्य से रोकना चाहती है यह भारी अन्याय है। यदि मैंने गवाही दी तो निश्चय ही श्री अरविन्द को जेल-दण्ड मिलेगा और इस कार्य में बाधा पहुँचेगी और मेरा गवाही देना अन्याय में सहायता करना

* यह सच्ची घटना है। जिस उत्तनगर की यह घटना है उसका नाम प्रकट करना लेखक आवश्यक नहीं समझता।

होगा। परन्तु वे असत्य भी न बोलना चाहते थे। अतः उन्होंने अदालत में गवाही देना अस्वीकार कर दिया जिसके परिणाम-स्वरूप ६ मास कारावास का दण्ड भोगा और श्री अरविन्द अभियोग से मुक्त हो गये। दूसरों के लिये या किसी ऊँचे आदर्श के लिए सत्य पालन करते हुए सच्ची गवाही का यह कितना सुन्दर ऐतिहासिक उदाहरण है। जहां सत्य बोलने पर अन्याय होने की संभावना हो वहां मौन हो जाना ही सत्यभाषण है।

[४]

सच्चा न्याय

आजकल न्यायालयों में जो न्यायाधीश निर्णय करते हैं वे अनेक बार तो किसी धर्म, जाति या देश के पक्षपात के साथ करते हैं। अनेक बार घूस लेकर या राज्य के दबाव में आकर निर्णय देते हैं। ब्रिटिश शासन काल में भारत में अनेक न्यायाधीशों ने 'शराब मत पीओ' ऐसा कहने वालों को अथवा कहने के सन्देह मात्र से एक वर्ष का कठोर कारावास का दण्ड और एक हजार रुपये तक जुर्माना किया है और कुछ भारतीय न्यायाधीशों ने तो अपना निर्णय लिखते समय इसे स्पष्ट ही बदला लेने की नीति (Vindictive policy of the Government) कहा है। अनेक देश-भक्तों की देश-भक्ति को अपराध मानकर उन्हें जेल, जुर्माना, देशनिर्वासन और फांसी के दण्ड न्यायालयों ने दिये हैं।

परन्तु सच्चा न्याय वह होता है जिसमें न्यायाधीश विना किसी धर्म, जाति, देश या मित्रता के पक्षपात के, केवल तथ्यों के अनुसार निर्णय करता है। यदि उसके पुत्र या स्त्री ने अन्याय किया है तो

उसे भी समान रूप में दण्ड देता है।

वार्ली और वीचक्रॉफ्ट

श्री अरविन्द और उनके साथी देशभक्तों पर सन् १९०८ में अलीपुर षड्यन्त्र नामक एक अभियोग चलाया गया। इसमें, श्री अरविन्द के शब्दों में— "मैजिस्ट्रेट, वकील, साक्षी, साक्ष्य, अभियुक्त सभी विचित्र थे। प्रतिदिन साक्षी और दस्तावेजों का वही अविराम प्रवाह, वही वकील का नाटकीय अभिनय, वही बाल-स्वभाव मैजिस्ट्रेट की बालकोचित चपलता और लघुता, उसकी अपूर्व अभियुक्तों के अपूर्व भाव को देखते-देखते अनेक बार यह कल्पना मन में उदय होती कि मैं ब्रिटिश न्यायालय में न बैठकर किसी नाटक-गृह के रंगमंच पर या किसी कल्पनापूर्ण औपन्यासिक राज्य में बैठा हूँ।

"इस नाटक के प्रधान अभिनेता थे सरकार बहादुर के कौंसिली नर्टन साहब। वे प्रधान अभिनेता ही क्यों इस नाटक के रचयिता सूत्रधार (Stage Manager) और साक्षी-स्मारक (Prompter) थे। इस प्रकार की विचित्र प्रतिभावाले व्यक्ति जगत् में दुर्लभ हैं।

"नर्टन साहेब ने इस नाटक के नायक रूप में मुझे ही पसन्द किया है यह देखकर मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई। जिस प्रकार मिल्टन के पैरेडाइज लॉस्ट (Paradise Lost) का शैतान, मैं भी इसही प्रकार नर्टन साहेब की नाटकीय वस्तु का कल्पना-प्रसूत, महाविद्रोह का केन्द्र-स्वरूप, तीक्ष्ण-बुद्धि-युत क्षमतावान् और प्रतापशाली मनुष्य (bold badman) था। मैं ही राष्ट्रीय आन्दोलन का आदि और अन्त, स्रष्टा, पाता और ब्रिटिश साम्राज्य

का संहार प्रयासी था। उत्कृष्ट और तेजस्वी अंग्रेजी लेख देखते ही नर्टन साहेब कूदने लगते और जोर से कहते— अरविन्द घोष। आन्दोलन का वैध अवैध जो भी सुशृंखलित अंग या अप्रत्याशित फल सबही अरविन्द घोष की सृष्टि, और चूंकि अरविन्द की सृष्टि अतः वैध होते हुए भी अवैध अभिसन्धि गुप्तरूप में उसके भीतर निहित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका विश्वास था कि यदि मैं पकड़ा न जाता तो अंग्रेजों का भारत पर शासन दो वर्ष में नष्ट हो जाता। मेरा नाम किसी फटे कागज के टुकड़े पर पाते ही नर्टन बहुत प्रसन्न होते और आदर के साथ इस परम मूल्यवान् प्रमाण को मैजिस्ट्रेट के श्रीचरणों में अर्पित करते। नर्टन साहेब ने मेरे प्रति उस समय ऐसी अनन्य-भक्ति और ऐसा अनवरत ध्यान किया कि यदि मैं अवतार होता तो निश्चय ही उन्हें मुक्ति मिल जाती। ऐसा होने पर मेरा कारावास का समय और सरकार का धन-व्यय दोनों की ही बचत होती।

बैरिस्टर चटर्जी महाशय के समान रसानभिज्ञ लोग नहीं देखा। नर्टन साहेब जब संलग्न (युक्त) असंलग्न (अयुक्त) विचार को तिलाञ्जलि देकर केवल काव्य-रचना के लिये अनेक प्रमाण एकत्रित करते थे तब चटर्जी महाशय उठकर असंलग्न या Inadmissible कहकर आपत्ति करते। इस असंगत व्यवहार पर नर्टन साहेब ही नहीं मैजिस्ट्रेट बार्ली साहेब तक क्रुद्ध हो जाते। एक बार बार्ली साहेब ने चटर्जी महाशय को करुण स्वर से कहा था— मिस्टर चटर्जी! जब तक आप नहीं आये थे तो हम मुकद्दमे को निर्विघ्न चला रहे थे (Mr. Chatterji we were getting on very nicely before you came)। ऐसा होने पर,

नाटक की रचना के समय बात बात पर आपत्ति उठाने पर नाटक भी अग्रसर नहीं होता और दर्शकवृन्द का भी रस भंग होता है।

नर्टन साहेब यदि नाटक के रचयिता, प्रधान अभिनेता और सूत्रधार थे तो मैजिस्ट्रेट वार्ली को नाटक का पृष्ठपोषक कहा जा सकता है। वार्ली साहेब सम्भवतः स्कौच जाति के गौरव थे। पहले से ही वे नर्टन साहेब के पाण्डित्य और वाक्पटुता से मुग्ध होकर उनके वशीभूत हो गये थे। विनीत भाव से नर्टन से प्रदर्शित पथ का इस प्रकार अनुसरण करते, नर्टन के मत में मत देते, नर्टन के हंसने पर हंसते, नर्टन के क्रुद्ध होने पर क्रुद्ध होते कि उनके इस सम्पूर्ण विशुद्ध आचरण को देखकर बीच बीच में उनके प्रति प्रबल स्नेह और वात्सल्य का भाव मन में आविर्भूत होता था। वार्ली बिल्कुल बालस्वभाव के थे। कभी यह मन में नहीं सोच सका कि वे मैजिस्ट्रेट हैं। ऐसा जान पड़ता मानो कोई स्कूल का विद्यार्थी जबर्दस्ती स्कूल का शिक्षक होकर शिक्षक के उच्च आसन पर बैठा हो। इसही भाव से वे कोर्ट का कार्य चलाते थे। यदि कोई उनकी रुचि के प्रतिकूल व्यवहार करता तो स्कूल मास्टर के समान उसे दण्ड देते। हममें से यदि कोई मुकदमा-प्रहसन में उदासीन होकर आपस में बातचीत करने लगते तो वार्ली साहेब स्कूल-मास्टर के समान बकने लगते, न सुनने पर खड़ा होने का हुक्म देते, उसे भी तत्काल न सुनने पर पहरेदार को खड़ा करने का हुक्म देते। हम इस स्कूल-मास्टरी के आचरण की प्रतीक्षा करते हुये इतने अभ्यस्त हो गये थे कि हम प्रतिक्षण इस प्रत्याशा में रहते थे कि इस बार बैरिस्टर चटर्जी महाशय के ऊपर खड़ा होने का हुक्म जारी होगा। किन्तु वार्ली साहेब ने उल्टा ही उपाय अपनाया।

ओर से चिल्लाकर कहा— मिस्टर चटर्जी बैठ जाओ (Sit down Mr Chatterji)। ऐसा कहकर अलीपुर स्कूल के इस उद्दण्ड छात्र को बिठला दिया। जिस प्रकार किसी छात्र के पढते समय कोई प्रश्न करने पर या विशेष व्याख्या करने को कहने पर कोई मास्टर उस पर क्रुद्ध होकर उसे दण्ड देता है इसही प्रकार बाल मैजिस्ट्रेट भी अभियुक्त के वकील द्वारा आपत्ति करने पर उसे दण्ड देते थे"।

सौभाग्य से यह अभियोग मैजिस्ट्रेट के कोर्ट से बदल कर सेशन जज के सामने चला गया। उसमें जज थे श्री बीचक्रैफ्ट जो कि इंग्लैंड में श्री अरविन्द के सहपाठी थे और ग्रीक और लैटिन में जब कि श्री अरविन्द सर्वप्रथम थे तो बीचक्रैफ्ट द्वितीय थे। श्रीयुत चित्तरंजनदास ने बिना फीस लिए रातदिन सेवाभाव से इस मुकद्दमे की पैरवी की। दो असेसरों ने श्री अरविन्द को निरपराध घोषित किया। जज ने उनके निर्णय को स्वीकार कर लिया और श्री अरविन्द छोड दिये गये, जबकि इनके छत्तीस साथी देश-भक्तों को विविध प्रकार के दण्ड दे दिये गये। इस अभियोग के विषय में श्री अरविन्द ने लिखा है

"सेशन्स अदालत में मुझे निरपराध घोषित होने से नर्टन रचित नाटक की शोभा और गौरव नष्ट हो गये। नीरसहृदय बीचक्रैफ्ट ने हैमलेट नाटक से हैमलेट को निकाल कर बीसवीं शताब्दी के श्रेष्ठ काव्य को हतश्री कर दिया"।

इस अभियोग में हमें दो प्रकार की विपरीत वस्तुएं दिखाई देती हैं। एक ओर मिस्टर नर्टन जैसे वकील हैं जो १०००) रु० प्रतिदिन

की आय के लोभ मे अनेक निरपराधी सच्चे देशभक्तों की जिनमें मे कुछ ऐसे भी हैं कि जिनकी गिनती संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुषों मे होती है, कारागार, देश-निर्वासन, मृत्यु जैसे दण्ड का अपराधी सिद्ध करने का षड्यंत्र रचते हैं। दूसरी ओर चित्तरंजनदास जैसे वकील हैं जो रातदिन परिश्रम करके उन्हें निरपराध प्रमाणित करने मे अपना धन, समय और स्वास्थ्य तक बलिदान कर देते हैं। एक ओर वार्ली जैसे न्यायाधीश हैं जो अभियुक्त के वकील द्वारा अभियोक्ता के गवाह मे प्रश्न करने पर क्रुद्ध हो जाते हैं और उसे बैठ जाने का हुक्म देते हैं। दूसरी ओर बीचक्रॉफ्ट जैसे सच्चे न्यायाधीश हैं जो हर प्रकार के धर्म या देश के पक्षपात को छोड़कर न्याय करते हैं। अत बुद्ध ने कहा है

> न तेन होति धम्मट्ठो येनेत्थ सहसा न य।
> यो च अत्थन्च उभो निच्छेय्य पण्डितो।।
> असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे।
> धम्मस्स गुत्तो मेधावी धम्मट्ठोति पवुच्चति ।।
>
> धम्मपाद २५६, २५७

पक्षपात आदि के वशीभूत होकर सत्यासत्य का विचार किये बिना जो निर्णय करता है वह सच्चा न्यायाधीश नहीं होता। जो पण्डित सत्य और झूठ दोनों का विचार करके पक्षपात-रहित होकर न्याय करता है वही धर्म की रक्षा करनेवाला सच्चा न्यायाधीश कहा जाता है।

प्रह्लाद

केशिनी नामक एक रूपवती कन्या के साथ विवाह के उद्देश्य से सुधन्वा नामक ब्राह्मण और राजा प्रह्लाद के पुत्र विरोचन में

विवाद हुआ। दोनों अपने आपको श्रेष्ठ मानते थे। दोनों ने बाजी लगाई कि जो श्रेष्ठ हो वह दूसरे के प्राण लेले। यह विवाद निर्णयार्थ राजा प्रह्लाद के पास पहुंचा। प्रह्लाद ने पुत्र के मोह को छोड़ते हुए पक्षपात-रहित होकर निर्णय दिया कि सुधन्वा विरोचन से श्रेष्ठ है।

सुधन्वा विरोचन के पिता प्रह्लाद के इस पक्षपात-रहित निर्णय को सुनकर प्रसन्न हुआ। उसने विरोचन को जीवन दान दे दिया।

वही सच्चा न्याय है जिसमें पुत्र और प्रजा में कोई भेद नहीं किया जाता।

गयासुद्दीन

दिल्ली का बादशाह गयासुद्दीन एक बार तीर चलाने का अभ्यास कर रहा था। अचानक एक तीर लक्ष्य से चूककर एक बालक को लगा और वह मर गया। बालक की माता दिल्ली के प्रधान काजी सिराजुद्दीन के पास रोती हुई गई। काजी ने उसे दूसरे दिन न्यायालय में उपस्थित होने को कहा।

काजी ने बादशाह के पास सन्देश भेज दिया कि उनके विरुद्ध हत्या का अभियोग है अत वे न्यायालय में उपस्थित हों। सुल्तान गयासुद्दीन साधारण वेश में अदालत में उपस्थित हुआ। काजी ने उनका कोई सम्मान नहीं किया, इसके विपरीत उन्हें साधारण अपराधी के समान खड़ा रहने को कहा। सुल्तान शान्त खड़े रहे। उन्होंने अपना अपराध स्वीकार किया, बालक की माता से क्षमा मांगी और उसे बहुत-सा धन देने का वचन दिया। बालक की माता से राजीनामा लिखवाकर सुल्तान ने काजी को दे दिया।

यह सब हो जाने पर काजी न्यायासन से उठा और आगे बढ़कर सुल्तान को सलाम किया। बादशाह ने अपने वस्त्र में छिपी एक छोटी तलवार निकालकर दिखाते हुए कहा— "काजी जी! आपकी आज्ञा से मैं न्याय का सम्मान करने और आपकी परीक्षा करने अदालत में आया हूँ। यदि मैं देखता कि आप मेरे डर से तनिक भी न्याय से विचलित होते तो यह तलवार आपकी गर्दन उड़ा देती।"

काजी सिराजुद्दीन ने अपने न्यायालय के पास रखी एक बेंत को उठाकर कहा— "जहांपनाह! यह अच्छा ही हुआ कि आपने न्यायालय का सम्मान किया। यदि आप तनिक भी विचलित होते तो इस बेंत से आपकी चमड़ी उधेड़ देता, पीछे से चाहे आप मुझे फांसी ही क्यों न दे देते"।

सुल्तान इसे सुनकर प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा- "मुझे ऐसे न्यायाधीश पर गर्व है। वही सच्चा न्यायाधीश है जिसके लिये राजा और प्रजा समान हैं।"

न्याय में सत्यान्वेषण

आजकल न्यायालयों में जो न्यायाधीश निर्णय करते हैं वे वादी प्रतिवादियों के वक्तव्यों, तत्संबन्धी साक्ष्यों और उन पर हुए वकीलों के तर्क-वितर्कों के आधार पर ही करते हैं। परन्तु इन अभियोगों में प्रायः दोनों ही पक्षों में कुछ न कुछ असत्य रहता है और जब एक पक्ष सचाई पर होता है तो दूसरे पक्ष के वकील अपनी धन-प्राप्ति के लोभ में उसे असत्य प्रमाणित करने के लिए ऐसे विलक्षण तर्क उपस्थित करते हैं कि जिससे न्यायाधीश के लिए

इनमें से सत्य को ढूँढ निकालना असंभव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य हो जाता है। यदि वकील सच्चे पक्ष का ही समर्थन करने का प्रन लें और न्यायाधीश सच्चे हृदय से सत्य की खोज करने का प्रयत्न करें तो सत्य का पता चलना असम्भव नहीं है। सत्य का अन्वेषण करने वाले ऐसे अनेक न्यायाधीशों के उदाहरण मिलते हैं।

राजा विक्रमादित्य

विक्रमादित्य मालवा देश के एक बहुत प्रतापी न्याय-प्रिय राजा होगये हैं। इनकी राजधानी उज्जैन थी। भारत में जो विक्रम सन् आजकल प्रचलित है उसके यही प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इनके न्याय और पराक्रम की कथायें भारत में घर-घर में बहुत आदर के साथ कही और सुनी जाती हैं।

इनके राज्य के एक ग्राम में दो स्त्रियां रहती थीं जिनमें एक का नाम था धर्मवती और दूसरी का था दुर्मति। इन दोनों में परस्पर में मेलजोल था। समय आने पर धर्मवती के पुत्र उत्पन्न हुआ और दुर्मति के कन्या। दुर्मति ने जब यह सुना कि धर्मवती के पुत्र उत्पन्न हुआ है तो उसे बहुत दुःख हुआ और साथ में ईर्ष्या भी। उसने किसी को यह नहीं बतलाया कि उसके कन्या हुई है। उसने यही घोषित किया कि उसके भी पुत्र ही हुआ है। एक दिन अवसर पाकर जबकि धर्मवती घर से कहीं बाहर गई हुई थी दुर्मति ने उसके पुत्र का अपहरण कर लिया और अपनी कन्या को समीप के एक ग्राम में अपनी सखी के पास भिजवा दिया। धर्मवती ने जब अपने पुत्र को घर पर न देखा तो वह रोती रोती इधर उधर

खोजती फिरती रही। जब वह दुर्मती के घर पहुँची तो उसने अपने पुत्र को देखकर कहा कि यह तो मेरा पुत्र है। परन्तु उसके कथन पर किसी को विश्वास नहीं हुआ। विवाद बढ़ा और निर्णयार्थ विक्रमादित्य के पास पहुँचा। विक्रमादित्य ने दोनों स्त्रियों के वक्तव्यों को सुना किन्तु वे कुछ भी निर्णय न कर सके। उन्होंने उनके भीतरी भावों का पता चलाने के लिये यह निर्णय घोषित किया कि इनके वक्तव्यों से ज्ञात होता है कि यह दोनों का पुत्र है अत. इसके दो टुकड़े करके दोनों में बराबर बांट दिया जाना चाहिये। उन्होंने एक सप्ताह आगे की तिथि निश्चित करके उस दिन उन्हें न्यायालय मे उपस्थित होने का आदेश दिया। उसने उनके लिए वहाँ पृथक्-पृथक् ठहरने का प्रबन्ध कर दिया और इस बीच में बालक को अपने राज्य की ओर से एक परिचारिका की देख-भाल मे रखवा दिया।

विक्रमादित्य ने एक गुप्तचर स्त्री को इनका भेद लेने के लिये नियुक्त किया। वह गुप्तचर स्त्री दुर्मति के पास गई। उसने भोजन वस्त्र आदि से उसकी सहायता की और उसके साथ खूब घुल-मिल कर बातें करने लगी। एक दिन उसे प्रसन्न मुद्रा में देखकर गुप्तचरी ने पूछा— बहिन आज बहुत प्रसन्न हो क्या बात है ?

दुर्मति ने कहा— यहां के राजा बहुत अच्छे हैं। उन्होंने बहुत अच्छा न्याय किया है। गुप्तचरी ने पूछा— राजा ने क्या न्याय किया है बहिन ? दुर्मति ने कहा— राजा ने यह न्याय किया है कि अमुक तिथि को यह बालक दो टुकड़ों में बांट दिया जायगा।

गुप्तचरी — तब इसमें अच्छी बात क्या है बहिन ?

दुर्मति — बहिन मुझसे यह नहीं देखा जाता कि मेरे कन्या रहे और उसके पुत्र हो जाय। इस पुत्र के कट जाने पर मेरे तो कन्या रहेगी ही पर इसके पुत्र नहीं रहेगा इसही से मुझे प्रसन्नता है।

गुप्तचरी ने बातों बातों में यह भी पता चला लिया कि इसकी कन्या किस ग्राम में और किस स्त्री के पास है और यह सारा समाचार विक्रमादित्य को सुनाया। राजा ने गुप्त रूप से अपने कर्मचारी भेजकर उस कन्या को और जिस स्त्री के पास वह थी उसे बुलवा लिया और दुर्मति से अलग ठहरा दिया।

फिर वह गुप्तचरी धर्मवती के पास गई। उसने उसे भी भोजन आदि में यथेष्ट सुविधायें दिलाईं। परन्तु उसने देखा कि धर्मवती रातदिन रोती ही रहती है। गुप्तचरी ने कहा— बहिन रात दिन क्यों रोती रहती हो? यदि खान पान आदि में कोई कमी हो तो बतलाओ मैं अभी पूरा किये देती हूँ।

धर्मवती ने कहा— बहिन! बहुत दिन प्रतीक्षा के बाद पुत्र का मुख देखा था। पुत्र होते ही पन्द्रह दिन बाद इसका पिता परलोक सिधार गया। अब पुत्र भी परलोक जा रहा है। अब तो मेरे सामने अंधेरा ही अंधेरा है। रोने के सिवाय और कोई चारा नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि पुत्र की लाश और मेरी लाश एक ही चिता पर साथ साथ जलाई जायेंगी। गुप्तचरी ने यह समाचार भी राजा को दे दिया।

निश्चित तिथि आने पर दुर्मति और धर्मवती दोनों राजसभा में उपस्थित हुईं। बालक भी वहां लाया गया और एक जल्लाद हाथ

में तलवार लिए बालक के पास खड़ा था। विक्रमादित्य ने दुर्मति को बुलाकर पूछा — कहो तुम्हें कौनसा भाग चाहिये?

दुर्मति ने उत्तर दिया— दायां पैर, दायीं छाती, दायां हाथ, दायां कान और सिर का दायां भाग।

राजा ने धर्मवती से भी यही प्रश्न किया। धर्मवती ने रोते-रोते कहा— राजन्! मुझे कोई भाग नहीं चाहिये, यह पुत्र आप इसे ही देदें। जीवित रहा तो मैं कभी कभी इसका मुख देखकर नेत्रों को तृप्त करलिया करूँगी, यही मेरे लिये पर्याप्त है। यदि इसके दो टुकड़े ही करने हो तो इससे पहले मेरे शरीर के दो टुकड़े कर दीजिये।

उसका कथन सुनने के अनन्तर राजा ने उस गुप्तचरी को बुलाया। गुप्तचरी ने दुर्मति के साथ जो बातचीत हुई थी वह सब सुना दी। उसही समय उस कन्या को और उसकी उस परिचारिका को भी जो कि दुर्मति की सखी थी सभा में उपस्थित किया गया। परिचारिका ने राजा के भय से सभा में सत्य सत्य कहा कि यह कन्या दुर्मति की है जो उसने पालन-पोषण करने के लिए मेरे पास भिजवाई है। विक्रमादित्य ने निर्णय दिया कि धर्मवती के हृदय में बालक के प्रति मातृस्नेह है और यह पुत्र इसका ही है। दुर्मति की यह कन्या है पुत्र नहीं है। इसने उसका अपहरण किया है। अतः राजा ने वह पुत्र धर्मवती को दिलवा दिया और दुर्मति को आर्थिक दण्ड देकर भविष्य में वैसा न करने की चेतावनी दी।

काश्मीर नरेश यशस्करदेव

विक्रमीय दशम शताब्दी में काश्मीर के सिंहासन पर महाराजा यशस्करदेव शासन करते थे। एक बार जब वे सभा में बैठे थे तो

पहरेदार ने आकर सूचना दी कि एक मनुष्य द्वार पर बैठा है और भूखो प्राण देने का निश्चय किये हुए है। महाराजा ने उसको बुलवा कर कारण पूछा। उस व्यक्ति ने कहा— महाराज ! मैं इसही नगर का रहने वाला एक व्यापारी हूँ। व्यापार मे घाटा होने के कारण मुझे अपना मकान और सब सम्पत्ति बेच देने पड़े परंतु मैंने अपना मकान का एक भाग जिसमें कुआं है और सीढ़ी है, अपने लिये रख लिये थे। मैं व्यापार करने विदेश चला गया तो मेरे पीछे उस मकान को भी छीन लिया गया और मेरी स्त्री एवं बच्चों को वहां से निकाल दिया गया। मैंने न्यायाधीशों को सच-सच समाचार दिया तो किसी ने कुछ भी नहीं सुना। अतः अब मैं आपकी शरण में आया हूँ। मुझे आपकी न्यायप्रियता मे विश्वास है। राजा ने न्यायाधीशों को और उस नागरिक को जिसने मकान लिया था, बुलवाकर यह समाचार कहा। न्यायाधीशों ने उत्तर दिया कि जैसा प्रतिज्ञापत्र में लिखा है हमने तो वैसा ही निर्णय दिया है। तब राजा ने वातो वातों मे चतुराई से उस नागरिक की, जिसने मकान को मोल लिया था, अंगूठी लेली। अंगूठी को उसके घर पर भेजकर उसकी बही को मंगवा लिया। राजा ने बही को पढ़ा तो उसमें १०००) राजलेखक को दिये लिखे थे। राजा ने न्यायाधीशों से पूछा कि इस साधारण से क्रय-विक्रय के लिये राजलेखक को १०००) देने का क्या अर्थ है ? क्या यह घूस नहीं है ? उसने मकान के विक्रय-पत्र को सावधानी से पढ़ा तो पता चला कि "सोपान कूप रहित गृह" के स्थान पर राज-लेखक ने "सोपान कूप सहित गृह" बना दिया था। राजा ने न्यायालय के लेखक को सभा-भवन में बुलवाया। वह लज्जित था और उसने यह स्वीकार कर लिया

कि उसने ही 'र' के स्थान पर 'स' बनाकर यह पाप कर्म किया है। राजा ने वह मकान, कूप और सोपान उस व्यक्ति को दिलवा दिये और राज-लेखक एवं मकान मोल लेने वाले उस नागरिक को दण्ड दिया।

बंकिमचन्द्र चटर्जी

न्यायाधीश बंकिमचन्द्र चटर्जी बंगाल के रहने वाले थे। अंग्रेजी सरकार की नौकरी करते हुए भी देश-भक्ति की और देश को बन्धन-मुक्त करने की अग्नि प्रचण्ड वेग से इनके भीतर जला करती थी। राष्ट्रीय गीत 'वन्दे मातरम्' जिस पर सहस्रों देशवासियों का बलिदान हो चुका है इनका ही निर्माण किया हुआ है। ये एक उच्चकोटि के लेखक और कवि भी थे। श्री अरविन्द ने उन्हें भविष्य-दर्शी ऋषि कहा है।

बंकिमचन्द्र चटर्जी वर्द्धवान मे मैजिस्ट्रेट थे। एक बार एक ग्रामीण ब्राह्मण का पुत्र कलकत्ते में पढ़ता था। कलकत्ते से उस ब्राह्मण को समाचार मिला कि उसका पुत्र बहुत रुग्ण है। दरिद्र ब्राह्मण बहुत घबराया और पैदल कलकत्ते के लिये चल पड़ा। मार्ग मे रात हो जाने पर उसने एक ग्राम में ठहरने का निश्चय किया।

उसने एक मनुष्य के द्वार पर जाकर अपना परिचय देते हुए रातभर विश्राम करने की अनुमति मांगी किन्तु नहीं मिली। वह और भी अनेक व्यक्तियों के पास पहुचा किन्तु सभी ने मना कर दिया। बेचारा ब्राह्मण बड़ी कठिनाई में पड़ा। एक और पुत्र की चिन्ता, दूसरे मार्ग की थकावट और फिर भूख-प्यास और गाव

वालों का यह अमानुषिक व्यवहार। रात हो जाने के कारण आगे बढ़ना भी उसके लिये संभव नहीं था। एक व्यक्ति को कुछ दया आगई। उसने उसे अपने यहाँ ठहरा लिया। परन्तु उसे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि इतने बड़े ग्राम में केवल एक ही व्यक्ति उसे घर पर ठहराने वाला मिला और वह भी बहुत कठिनाई से। ब्राह्मण ने अपने आतिथ्यकार से इसका कारण पूछा। उसने बतलाया कि कुछ दिनों से हमारे ग्राम मे अनेक यात्री आये और प्राय: सभी रात्रि में कुछ न कुछ चुरा कर ले गये। इसलिये हम लोगों ने किसी राहगीर को आश्रय न देने का निश्चय किया हुआ है।

ब्राह्मण भोजन करके लेट गया, किन्तु पुत्र की चिन्ता में उसे नींद न आई। करवटें बदलता रहा। मध्यरात्रि में उसे अचानक बाहर कुछ आहट सुनाई पड़ी। वह उठ बैठा। उसने बाहर निकल कर देखा कि एक व्यक्ति सन्दूक सिर पर उठाये भागा जा रहा है। उसे सन्देह हुआ। वह चोर चोर चिल्लाता हुआ उसके पीछे भागा और उसे पकड़ लिया। सन्दूक लेकर भागने वाला एक सिपाही था। सिपाही ने सन्दूक को रख दिया और चोर चोर कहकर उल्टे ब्राह्मण को ही पकड़ लिया। ग्राम के बहुत से व्यक्ति इकट्ठे हो गये। उन्होंने जब देखा कि पुलिस का सिपाही एक अज्ञात व्यक्ति को पकड़े हुए है और सन्दूक पास मे पड़ा है तो उन्होंने उस ब्राह्मण को ही चोर समझा। उसे थाने में ले जाया गया और उस पर अभियोग चला।

यह अभियोग बंकिमचन्द्र चटर्जी के न्यायालय में गया। दोनों के वक्तव्य को सुनकर बंकिम बाबू यह तो ताड़ गये कि ब्राह्मण

निर्दोष है और सत्य बोल रहा है किन्तु निर्णय देने के लिये किसी बाहरी प्रमाण की आवश्यकता थी। उन्होंने उस दिन की कार्यवाही स्थगित करदी।

दूसरे दिन न्यायालय में एक व्यक्ति ने आकर मैजिस्ट्रेट बंकिम बाबू से कहा कि तीन कोस की दूरी पर एक हत्या हो गई है, लाश वहाँ पड़ी है। बंकिम बाबू ने तुरन्त कटघरे में खड़े उस पुलिस के सिपाही और ब्राह्मण को आदेश दिया कि तुम दोनों जाकर उस शव को अपने कंधों पर ले आओ।

दोनों बतलाये हुए स्थान पर पहुंचे। वहाँ शव बँधा हुआ रखा था। दोनों ने उसे अपने कन्धों पर उठाया और चल पड़े। पुलिस का सिपाही हट्टा-कट्टा था, मौज से ला रहा था। पर ब्राह्मण बहुत दु:खित था। पुत्र की चिन्ता और इस विपत्ति के कारण रो रहा था। उसे रोता देखकर पुलिस के सिपाही ने हंसते हुए कहा—"कहो पंडित जी! हमने तुमसे पहले ही कहा था कि मुझे चुपके से ले जाने दो नहीं तो विपत्ति में पड़ोगे। तुम नहीं माने, अब फल भोगो अपनी करनी का, अब कम से कम तीन साल की जेल की हवा खानी पड़ेगी।"

ब्राह्मण बेचारा अवाक् था। न्यायालय को स्थूल प्रमाण चाहिए। प्रमाण स्वरूप पुलिस-मैन जो था जिसने उसे पकड़ा था। ब्राह्मण रोता हुआ न्यायालय में पहुंचा। न्यायाधीश की आज्ञा से शव न्यायालय में रखा गया और उसके बन्धन खोल दिये गये।

अब अभियोग प्रारम्भ हुआ। जिस समय दोनों पक्षों के वक्तव्य हो चुके तो एक विचित्र घटना घटी। वह शव वस्त्र को

उतार कर खड़ा हो गया और उसने मार्ग में हुई पुलिस के सिपाही और ब्राह्मण की वार्ता को कहा। उसकी बातें सुनकर बंकिमचन्द्र ने ब्राह्मण को निरपराध घोषित किया और पुलिस के सिपाही को चोरी करने का अपराधी ठहराकर दंड दिया।

बंकिम बाबू ने चोरी का पता चलाने के लिए स्वयं यह युक्ति निकाली थी और एक विश्वस्त व्यक्ति को मृत का अभिनय करने के लिए नियुक्त किया था। (रामशरण)

यदि सभी न्यायाधीश सच्चे हृदय से सत्य की खोज करने का प्रयत्न करें तो अधिकांश अभियोगों में सत्य का पता चल सकता है और सच्चा न्याय हो सकता है।

[६]

सच्चा व्रत : सच्ची प्रतिज्ञा

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम्।
तन्मे राध्यतां इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ यजु० १।५॥
सत्यमेव देवाः अनृतं मनुष्याः, इदमहम् मनुष्येभ्यो देवानुपैमि इति ॥
शतपथ का० १।१।१॥

हे व्रत के प्रभो अग्निरूप परमदेव! मैं व्रत का पालन करना चाहता हूँ। मुझे यह सामर्थ्य दो कि जिससे मैं उस व्रत का पालन कर सकूँ, मेरे उस व्रत को पूरा करो। मैं अनृत से सत्य को, मनुष्यत्व से देवत्व को प्राप्त कर सकूँ।

सच्चा व्रत वह होता है जो अपने मन और इन्द्रियों को संयत करने के लिए, देश या समाज का हित करने के लिए, किसी महान् लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, भगवान् को, देवत्व को प्राप्त करने के

लिए किया जाता है। और जब एक बार कर लिया जाता है तो चाहे जितने भी कष्ट क्यों न आयें सच्चे हृदय से उसका पालन किया जाता है।

भीष्म

भीष्म राजा शान्तनु के पुत्र थे। इनकी माता का नाम गंगा था। इनका बचपन का नाम देवव्रत था। महाराजा शान्तनु दाशराज की पालिता कन्या सत्यवती पर मोहित हो गये। उन्होंने दाशराज से उस कन्या के साथ विवाह करने का प्रस्ताव किया। दाशराज ने कहा कि यह तभी संभव है जबकि उसके गर्भ से उत्पन्न होने वाली संतान को ही राजसिंहासन पर बैठने का अधिकार देने के लिए आप वचन दें। शान्तनु अपने सुशील और गुणवान् पुत्र देवव्रत से बहुत स्नेह करते थे अतः वे उसके न्यायसंगत अधिकार को छीनना नहीं चाहते थे। इस कारण उन्होंने दाशराज को कोई उत्तर नहीं दिया और उदास रहने लगे। जब देवव्रत को मंत्रियों और सारथि से पिता की उदासी का कारण ज्ञात हुआ तो उन्होंने स्वयं दाशराज के पास जाकर कहा कि तुम सत्यवती का विवाह पिता जी से करदो, मैं राज्य नहीं लूगा। दाशराज ने कहा कि यह संभव है कि तुम गद्दी पर न बैठो, किन्तु तुम्हारी सन्तान गद्दी के लिए झगड़ा कर सकती है। यह सुनकर देवव्रत ने कहा :

> अद्य प्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति । ९६
> परित्यजाम्यहं राज्यं मैथुनं चापि सर्वशः ।
> ऊर्ध्वरेता भविष्यामि दाश सत्यं ब्रवीमि ते ॥९८
>
> म० भा० आदि १००

"मैं प्रतिज्ञापूर्वक सत्य कहता हूँ कि मैं आज से, ब्रह्मचर्य व्रत

को ग्रहण करता हूँ। मैं जीवन पर्यन्त न राज्य ग्रहण करूँगा और न किसी प्रकार का स्त्री-संसर्ग करूँगा। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ ऊर्ध्वरेता बनूंगा।"

इस भीष्म प्रतिज्ञा के कारण देवव्रत का नाम भीष्म पड़ा। उन्होंने दाशराज की अनुमति से सत्यवती को लेजाकर अपने पिता को दे दिया और अपनी प्रतिज्ञा सुना दी। महाराजा शान्तनु अपने पुत्र की पितृ-भक्ति से बहुत संतुष्ट हुए। उन्होंने पुत्र को आशीर्वाद देते हुए कहा कि बेटा! मैं तुम से बहुत प्रसन्न हूं। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं कि जब तुम चाहोगे तभी तुम्हारा शरीर छूटेगा। तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध मृत्यु तुम्हारा कुछ भी न बिगाड़ सकेगी। तुमसे आज्ञा लेकर ही मृत्यु तुम पर अपना प्रभाव प्रकट कर सकेगी।

सत्यवती के द्वारा शान्तनु के दो सन्तानें उत्पन्न हुईं— चित्रांगद और विचित्रवीर्य। चित्रांगद युवावस्था में ही युद्ध में मारा गया। विचित्रवीर्य को राजगद्दी पर बिठलाया गया। उसके लिए भीष्म काशिराज की तीन कन्याओं को स्वयंवर में जीत कर लाये, जिनमें से अम्बा ने शाल्वराज से विवाह करने की इच्छा प्रकट की और वह भीष्म की अनुमति से उससे विवाह करने चली गई। शेष दो का विवाह विचित्रवीर्य से हुआ। उनके साथ भोगविलास में लिप्त रहने के कारण विचित्रवीर्य को सात वर्ष में ही क्षय का रोग हो गया और वह यमलोक सिधार गया। तब सत्यवती ने भीष्म से कहा कि राज्य और कुल की रक्षा के लिए मेरी आज्ञा से अब तुम राज्य पर अपना अभिषेक करो और विवाह करके सन्तान उत्पन्न करो। भीष्म ने उत्तर दिया कि माता! तुम्हें विवाह के समय लाते

समय मैंने जो प्रतिज्ञायें की थीं वे तो तुम्हें स्मरण हैं ही। मैं उन प्रतिज्ञाओं को फिर सुनाता हूँ :

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ॥१०३॥

मैं तीनों लोकों का राज्य, देवों का राज्य ... से भी कोई महान् पदार्थ हो तो उसे भी छोड़ सकता हूँ किन्तु ... को नहीं छोड़ सकता। पञ्चमहाभूत चाहे अपना-अपना ... दें, सूर्य प्रकाश को छोड़ दे, इन्द्र पराक्रम को छोड़ दे, धर्मराज ... को छोड़ दें किन्तु मैं राज्य और विवाह को स्वीकार करके सत्य ... परित्याग नहीं कर सकता

न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन ॥१०३।१२॥

अतः माता तुम इस विषय में मुझसे कुछ न कहो। सत्य... को ऐसा उत्तर देकर वे अपने व्रत पर दृढ बने रहे।

एक बार परशुराम जी, जो कि धनुर्विद्या में भीष्म के गुरु ... काशिराज की कन्या अम्बा की प्रार्थना स्वीकार करके भीष्म के पा... आये और उनसे कहा कि भीष्म तुम अम्बा के साथ विवाह करलो... भीष्म ने उत्तर दिया कि गुरु जी ! मैंने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण... करने की प्रतिज्ञा की हुई है, मैं उसे भंग नहीं कर सकता, अतः मेरी... आपके चरणों में विनीत प्रार्थना है कि आप मुझे सत्य से च्युत होने... का आदेश न दें। परशुराम जी ने क्रोध में भर कर बार-बार कहा कि यदि तू मेरे वचन से इसे ग्रहण नहीं करेगा तो तुझे और तेरे मन्त्रियों को मार डालूँगा। भीष्म ने अनुनय विनय करते हुए कहा कि भगवन् ! मैं तो आपका शिष्य हूँ, आप से ही मैंने धनुर्विद्या

की और सत्यपालन की शिक्षा प्राप्त की है, तब आप मुझ बाल पर क्रुद्ध क्यों होते हैं? परशुराम जी ने अम्बा को ग्रहण करने का फिर बारम्बार आग्रह किया और युद्ध में मार देने की धमकी दी। भीष्म ने कहा कि मैंने प्राचीन ऋषियों के वचनों को सुना है कि यदि गुरु भी अभिमान मे भरकर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को न समझते हुए कुपथ का आश्रय ले तो इसका परित्याग कर देना चाहिये*। मैंने आपको गुरु मान कर आपका बहुत आदर सत्कार किया है। किन्तु अब आप मुझे मेरी उच्चकोटि की प्रतिज्ञा से, सत्य से भ्रष्ट करने का आदेश दे रहे हैं और शस्त्रास्त्र लेकर युद्ध करने के लिये उपस्थित हैं। ऐसी अवस्था में सत्यव्रती और क्षत्रिय होने के कारण आपके साथ युद्ध करना ही मेरा धर्म है। क्षत्रिय होने के नाते मेरे धर्म को आप सुनिये :

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम्॥
महा. भा उ. १७८। ३४॥

मैं भय से, दया से, अर्थ के लोभ से अथवा किसी कामना से क्षत्रिय धर्म को नहीं छोड़ सकता। यह मेरा व्रत है। अतः आप मुझ से युद्ध कर लें, युद्ध मे ही मैं आपके इस दर्प का हनन करूँगा।

परस्पर मे घोर संग्राम हुआ। अनेक प्रकार के दिव्य अस्त्रों का प्रयोग होते होते अन्त में परशुराम जी थक गये। भीष्म ने उनके संहार के लिए प्रस्वापन नामक एक दिव्य अस्त्र को धनुष पर

*गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥

चढाया, किन्तु तभी नारद आदि अनेक ऋषियों ने बीच मे आकर उन्हें लोकहित के लिए उसका प्रयोग न करने का परामर्श दिया। लोकहित को दृष्टि में रखते हुए भीष्म ने उसे लौटा लिया। तब ऋषियों ने भीष्म से युद्ध परित्याग करने को कहा, किन्तु वे अपने निश्चय पर दृढ रहे। तब ऋषियो ने परशुराम जी से कहा कि भीष्म अवध्य हैं आप उनके साथ युद्ध न करें। परशुराम जी पहले ही थकावट का अनुभव कर रहे थे। उनके मुँह से सहसा यह निकल पडा कि मुझ मन्दबुद्धि को भीष्म ने जीत लिया है (जितोऽस्मि भीष्मेण सुमन्दबुद्धि)। ऐसा कहकर उन्होंने शस्त्रास्त्रों का परित्याग कर दिया। ऋषियों के कहने से भीष्म ने भी शस्त्रास्त्रों का परित्याग कर दिया और गुरुजी के चरणो मे जाकर प्रणाम किया और परशुराम जी ने उन्हें आशीर्वाद दिया।

तदनन्तर परशुराम जी ने अम्बा से कहा कि मैं अपने समस्त शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करके भी भीष्म से अपनी बात नहीं मनवा सका। अत जैसा तुझे अच्छा लगे वैसा कर। वह वन में तपस्या करने चली गई और भीष्म की प्रतिज्ञा अटल रही।

ऐसे समय मे जबकि अधिक जनसख्या के भार से पृथ्वी मात व्यथित हो रही है और भोजन, वस्त्र, गृह आदि की समस्यायें भीषण रूप धारण कर रही हैं, भारत के और विश्व के नवयुवकों को भीष्म के त्याग और तपस्यामय जीवन का अनुसरण करते हुए क्षुद्र भोगविलासिता से ऊपर उठकर ब्रह्मचारी रहने का व्रत ग्रहण करना चाहिये और देश, समाज और भगवान् की सेवा मे अपने जीवन को लगाकर उसका सदुपयोग करना चाहिये।

रामचन्द्र

रामचन्द्र जी को जिस समय राजगद्दी मिलने वाली थी और सब स्थानों पर आमोद-प्रमोद हो रहा था तो उन्होंने सुना कि राजा दशरथ उन्हे बुला रहे हैं। वे राजा के पास गये तो उन्हे शोकाकुल अवस्था मे पडे देखा और केकयी को उनके पास देखा। रामचन्द्र जी ने केकयी से पिताजी की इस दशा का कारण पूछा। केकयी ने कहा कि तुम्हारे भय से राजा कुछ भी कहना नहीं चाहते। इन्होंने मुझे दो वर देने का वचन दिया है। यदि तुम पिता के वचनो को सत्य करने का वचन दो तो मैं तुम्हे बतलादू। यह सुनकर रामचन्द्र जी ने उत्तर दिया

> अह हि वचनाद्राज्ञ पतेयमपि पावके ॥२८॥
> भक्षयम विष तीक्ष्ण पतेयमपि चार्णवे।
> नियुक्तो गुरुणा मित्रा नृपेण च हितेन च ॥२९॥
> तद्ब्रूहि वचन देवि राज्ञो यदभिकाक्षितम्।
> करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥३०॥
>
> बा० रा० अयो० १८॥

हे देवि! मैं राजा के वचन से अग्नि में गिर सकता हूँ, पूजनीय हितकारी पिता के आदेश से तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ और समुद्र मे कूद सकता हूँ। अत राजा की जो इच्छा हो मुझे बतलाओ। मैं प्रतिज्ञा-पूर्वक कहता हूँ कि मैं उसे अवश्य करूंगा। राम सदा एक ही बात कहता है दूसरी बात नहीं कहता।

रामचन्द्र जी को जब केकयी से पता चला कि राजा दशरथ से केकयी ने दो वर मागे हैं— राम का चौदह वर्ष का वनवास और भरत का राजतिलक तो मन में लेशमात्र भी कष्ट का अनुभव

किये विना प्रसन्नता पूर्वक तुरन्त अयोध्या को छोड़ कर वनों में रहने के लिये चले गये और भयंकर से भयंकार विपत्ति सहकर भी अवधि से पहले लौटकर नहीं आये।

दण्डक वन में घूमते समय रामचन्द्र जी ने एक स्थान पर ऋषियों की अस्थियों का ढेर देखा। उन्होंने मुनियों से पूछा कि ये हड्डियां किनकी हैं। ऋषियों ने उत्तर दिया कि इस वन में राक्षसों का बहुत उपद्रव हो रहा है। राक्षस लोग जब यज्ञ, तप, ध्यान समाधि में संलग्न ऋषियों को देखते हैं तो उन्हें मारकर खा जाते हैं। उनकी ही हड्डियों का यह ढेर है। यह सुनकर रामचन्द्र जी ने राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा करी :

श्रुत्वा वचन मुनीना स भयदैन्यसमन्वितम् ।
प्रतिज्ञामकरोद् रामो वधायाशेषरक्षसाम् ॥
अ० रा० अ० २।२२॥

अस्थि समूह देखि रघुराया, पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया।
निसिचर हीन करऊं महि भुज उठाइ पन कीन्ह।

सीता ने रामचन्द्र को इस क्रूर कर्म से विरत करने की प्रार्थना की तो रामचन्द्र जी ने अपना दृढ निश्चय बतलाया :

अप्यहं जीवित जह्या त्वा वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
न तु प्रतिज्ञा प्रतिश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषत ॥
वा० अरण्य ३।१०।१६॥

हे सीते ! मैं अपने जीवन को छोड़ सकता हूँ, लक्ष्मण को और तुम्हें भी छोड़ सकता हूँ किन्तु एक बार प्रतिज्ञा करके, विशेष-कर तपस्वी ब्राह्मण, मुनियों से करके, उसे कभी नहीं छोड़ सकता।

रामचन्द्र जी ने वनों में सब ओर घूम घूम कर हर प्रकार के

कष्टों को सहन करते हुए, तपस्वी, त्यागी, ऋषियों को कष्ट पहुचाने वाले राक्षसों का संहार किया और शान्ति एव धर्म की स्थापना की।

अर्जुन

अर्जुन आदि पाण्डवों का जब द्रौपदी के साथ विवाह हो गया तो नारद ऋषि ने एक दिन पाण्डवों के पास जाकर कहा कि एक ्री के अनेक पति होने पर प्राय परस्पर मे वैर-विरोध हो जाया रता है जैसे कि तिलोत्तमा के कारण सुन्द और उपसुन्द मे हुआ ा। अत आप कोई ऐसी व्यवस्था करें कि जिससे परस्पर मे र-विरोध न होने पाय। नारद ऋषि के इस प्रकार के वचनों को ुनकर पाण्डवों ने प्रतिज्ञा की कि जब हम मे से कोई द्रौपदी के ास एकान्त मे बैठा होगा तो ऐसे समय मे यदि दूसरा कोई भाई हाँ जायगा तो उसे बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ान में निवास करना होगा

> द्रौपद्या न सहासीनानन्योऽय योऽभिदर्शयत् ।
> स नो द्वादश वर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत् ॥
> महा आदि २१८।२६॥

इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वे धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करते है। एक समय किसी ब्राह्मण की गायों को चोर चुराकर ले गये। उस ब्राह्मण ने आकर पाण्डवों से रोते हुए कहा कि चोर हमारी गायों को लेजा रहे हैं आप उन्हें छुडा कर लायें। जो राजा प्रजा मे कर ग्रहण करता है और उसकी रक्षा नहीं करता उसे शास्त्र ने पापाचारी कहा है। बार बार रोते हुए उस ब्राह्मण के उन वचनों को अर्जुन ने सुना और कहा— डरो मत, मैं अभी तुम्हारे साथ चलकर

गायों को छुडा लाता हूँ। अर्जुन अपने शस्त्र लेने गया किन्तु जहाँ वे शस्त्र रखे थे वहाँ द्रौपदी के साथ धर्मराज युधिष्ठिर बैठे थे। अर्जुन ने सोचा कि ऐसे समय में वहाँ जाने पर बारह वर्षों तक वनों में रहना होगा और सम्भव है इस दीर्घकाल तक वन में रहने पर मेरी मृत्यु हो जाय। यदि मैं शस्त्रास्त्र नहीं लाता हूँ और उपेक्षा कर देता हू तो मैं अपने क्षत्रिय धर्म से च्युत होकर अधर्मी बनता हूँ। तब क्या करना चाहिये? वह गहरी चिन्ता में पड गया। अन्त में उसने निश्चय किया कि वन में रहने में चाहे कितना भी कष्ट क्यों न हो या चाहे शरीर का भी विनाश क्यों न हो जाय, प्रजा की रक्षार्थ मैं अपने क्षत्रिय धर्म का ही पालन करूँगा। ऐसा निश्चय करके जहाँ द्रौपदी और युधिष्ठिर बैठे थे वहाँ धनुष लेने चला गया। उसने ब्राह्मण के साथ जाकर गायों को चोरों से छीन कर उस ब्राह्मण को दे दिया। उसने लौट कर युधिष्ठिर से कहा कि मैंने नियम का भग किया है अत अब मुझे वन में जाने की अनुमति दीजिये। युधिष्ठिर ने कहा— तुमने श्रेष्ठ कार्य के लिए ऐसा किया है और मैं तो तुमसे बडा हूँ। बडे भाई के सामने यदि छोटा भाई प्रवेश कर जाय तो वह अनिष्टकारी नहीं है। यदि छोटे के रहते बडा प्रवेश कर जाय तो उसमे नियम का भग होता है। इस लिये तुमने कोई अधर्म नहीं किया है। मेरे कथन से अपने वन जाने के विचार को बदलकर यहीं सुखपूर्वक रहो और प्रजा की रक्षा करते हुये धर्म का पालन करो।

युधिष्ठिर के इस कथन को सुनकर अर्जुन ने कहा कि मैंने आप से ही सुना है कि चालाकी से, छल से धर्म का आचरण नहीं करना चाहिये। मैं सत्य की शपथ खाकर और शस्त्र छूकर कहता हूँ कि

मैं सत्य से विचलित नहीं हूंगा*। अतः आप मुझे जाने की अनुमति प्रदान करें।

ऐसा कहकर और युधिष्ठिर से अनुमति लेकर अर्जुन समस्त राजकीय सुखों को छोड़कर बारह वर्ष तक वन में वास करने के लिए चला गया और अपनी प्रतिज्ञा को पूरा किया।

प्रजा के धन, जीवन और सदाचार की रक्षा का व्रत लेना प्रत्येक राजा का कर्त्तव्य है और जो उसके पालन करने में आवश्यकता आ पड़ने पर सब प्रकार के सुख-भोग को त्याग कर हर प्रकार के कष्ट सहन कर सकता है वही सच्चा राजा है।

झूठी प्रतिज्ञा

कभी-कभी मनुष्य मूर्खतावश भी प्रतिज्ञा कर लेता है। ऐसी प्रतिज्ञा अनेक बार अपने और दूसरों के लिए हानिकर होती है और अधःपतन का कारण होती है। ऐसी प्रतिज्ञा सच्ची प्रतिज्ञा नहीं कही जा सकती। यदि कोई मनुष्य भूल से, अज्ञानवश ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठे तो जब भी कभी उसे अपनी भूल का, अपने अज्ञान का पता लग जाय तभी उसे छोड़ देना चाहिये। सत्य यही है। भूल और अज्ञान को बनाये रखना सत्य नहीं है अपितु हठ, दुराग्रह और मिथ्याचार है।

युधिष्ठिर की प्रतिज्ञा थी कि जुए या युद्ध के लिये जब भी कोई

---

*न व्याजेन चरेद् धर्ममिति मे भवतः श्रुतम्।
न सत्याद् विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे॥
महा० आदि० २१३।३४॥

मुझे आह्वान करेगा तो मैं उससे पीछे नहीं हटूँगा* । शकुनि और दुर्योधन के कहने से धृतराष्ट्र ने जब युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को द्यूत के लिए आमंत्रित किया तो उन्होंने उसे स्वीकार करने में अपना गौरव समझा † और अपने सम्पूर्ण राज्य और अपनी प्रियतमा महारानी द्रौपदी को भी दाव पर रख दिया— जिसका परिणाम हुआ, द्रौपदी का सभा में नग्न किया जाना और पाण्डवों का तेरह वर्ष वनवास। इनका परिणाम निकला महाभारत युद्ध और सारे कुरुकुल का विनाश।

अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी कि जो व्यक्ति मेरे गाण्डीव धनुष का तिरस्कार करेगा मैं उसका सिर काट लूँगा। कर्ण के साथ युद्ध के अवसर पर कर्ण ने युधिष्ठिर को इतना अधिक घायल किया कि वे मूर्च्छित हो गये और उनका सारथि उन्हें शिविर में ले गया। अर्जुन ने जब युधिष्ठिर को संग्राम-भूमि में न देखा तो उसे चिंता हुई। वह युधिष्ठिर को देखने शिविर में आया। युधिष्ठिर ने समझा कि कर्ण मारा गया है तभी अर्जुन यहाँ आया है अन्यथा यहाँ क्यों आता? अतः उन्होंने अर्जुन की बहुत प्रशंसा की। अर्जुन ने कहा कि कर्ण अभी मारा नहीं गया है, मैं तो केवल आपको देखने आया

---

*आहूतोऽहं न निवर्त्तेय कदाचित् ।
तदाहित शाश्वत वै व्रत मे ॥ महा. सभा. ५८।१६

आहूतो न निवर्त्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ॥
महा. सभा ५९।१८

† आहूतो हि परै राजा क्षात्र व्रतमनुस्मरन् ।
दीव्यते परकामेन तन्न कीर्तिकर महत् ॥
म० सभा० ६६।६॥

हूँ। यह सुनकर युधिष्ठिर ने समझा कि यह अकेले भीम को युद्ध-भूमि में छोड़कर कर्ण के भय से जान बचाने के लिए चला आया है। अतः उन्होंने उसके गाण्डीव धनुष को धिक्कारा। अर्जुन ने तलवार निकाली। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से पूछा कि यहाँ तलवार क्यों निकाल रहे हो? यहाँ तुम्हें किससे युद्ध करना है? अर्जुन ने उत्तर दिया कि मेरी प्रतिज्ञा है कि जो व्यक्ति मेरे गाण्डीव का तिरस्कार करेगा मैं उसका सिर काट दूँगा। युधिष्ठिर ने गाण्डीव की निन्दा की है अतः अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए तलवार निकाली है। श्रीकृष्ण ने समझाया कि यह तुम्हारी प्रतिज्ञा मूर्खता की (मौर्ख्यात्) प्रतिज्ञा है, झूठी है। ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिये। और यदि करली है तो विवेकपूर्वक इसका पालन करना चाहिये। शास्त्रों ने कहा है कि बड़ों का अपमान करना ही उनका सिर काटना है। तुम एक दो शब्द इनके तिरस्कार का कह दो। उसमे ही तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी। अर्जुन ने कुछ शब्द युधिष्ठिर के अपमान करने वाले कहे। उसने फिर भी तलवार को निकाला। श्रीकृष्ण ने पूछा कि अब फिर तलवार क्यों निकाल रहे हो? अर्जुन ने उत्तर दिया कि मैंने पूजनीय भाई का निरादर किया है इसलिए अब अपना ही संहार किये लेता हूँ। श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि यह तुम्हारी मूर्खता है। तुम भाई को देखने आए थे उन्हें देख लिया। अब इनका आशीर्वाद लेकर युद्ध में कर्ण की हत्या करके और विजय प्राप्त करके द्रौपदी के अपमान और अभिमन्यु के वध के समय की हुई अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करो। इस प्रकार श्रीकृष्ण के समझाने से अर्जुन युधिष्ठिर का आशीर्वाद लेकर युद्ध करने रण-भूमि में चला गया।

इस प्रकार श्रीकृष्ण जैसे चतुर व्यक्ति अर्जुन के साथ थे तो उन्होंने इस मूर्खता से उनकी रक्षा कर दी, अन्यथा तभी युधिष्ठिर और अर्जुन का विनाश हो गया होता। यदि श्रीकृष्ण जुए के अवसर पर भी होते तो कभी भी जुआ न खेला जाता। स्वयं श्रीकृष्ण ने इस बात को पाण्डवों से कहा था।

अत मनुष्य को वही प्रतिज्ञा करनी चाहिये जो उसके जीवन को ऊँचा उठाने वाली हो, जो अपने और दूसरों के लिए हितकारी हो, जो भगवान की प्राप्ति में सहायक हो। प्रतिज्ञा करने की अपेक्षा अच्छा यह है कि मनुष्य किसी उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अपने भीतर दृढ संकल्प रखे और उसकी पूर्ति के लिए सचाई के साथ प्रयत्न करता हुआ सच्चे हृदय से भगवान् से प्रार्थना करता रहे और उसकी पूर्ति का भार अपने अहंकार पर न रख कर भगवान् पर ही छोड दे।

[७]

सच्ची मित्रता

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यानि गूहति गुणान्प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति, ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्त ॥ मु० र० भा०

जो व्यक्ति पाप कर्मों से दूर हटाता है, कल्याणकारी कर्मों में प्रवृत्त करता है, मित्र की गुप्त बातों को दूसरों के सामने प्रकट नहीं करता, गुणों की उसके सामने प्रशंसा नहीं करता, विपत्ति आपडने पर परित्याग नहीं करता, आवश्यकता पडने पर धन आदि अपने सर्वस्व को उसे दे देता है वही सच्चा मित्र होता है।

शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः ।
दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्‌गुणाः ॥ सु र भा

पवित्रता, त्याग, शूरता, सुख और दुःख मे समानता, सरलता, उदारता, प्रेम और सत्यता — ये सच्चे मित्र के गुण हैं।

सच्ची मित्रता तभी संभव है जबकि दो मित्रों के परस्पर के संबंध में किसी भी प्रकार की स्वार्थ की भावना न हो। कारण स्वार्थ की भावना के आजाने पर जब तक एक व्यक्ति स्वार्थ की पूर्ति की आशा रखता है तभी तक प्रेम करता है और जैसे ही उस स्वार्थ-पूर्ति में निराशा होने लगती है तो मित्रता भी क्षीण होने लगती है। इसलिए सच्ची मित्रता के लिए यह आवश्यक है कि दोनों मित्रों के जीवन का लक्ष्य साधारण भोगविलास की अपेक्षा ऊंचा हो और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीवन में साधना हो। ऐसा होने पर ही एक मित्र अपने सर्वस्व को दूसरे मित्र के लिए, दूसरे शब्दों मे एक ऊंचे आदर्श के लिए न्यौछावर कर सकता है।

डैमन और पीथियस

इटली के पास सिसिली नामक एक बड़ा टापू है। वहां सिराक्यूज नामक एक नगर में डैमन नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् रहता था। उसके धार्मिक विचारों से वहां के राजा डायोनिसियस का मत न मिलता था। अतः राजा ने उसे फांसी का दण्ड दिया। राजा ने उससे कहा कि मृत्यु से पहले यदि तुम कुछ कहना चाहते हो तो कहो। डैमन ने राजा से प्रार्थना की कि राजन्! मेरी इच्छा फांसी से पहले एक बार अपने परिवार वालों से, जो कि यहां से दूर ग्रीस देश में रहते हैं, मिलने की है। राजा ने कहा कि यदि

तुम किसी ऐसे विश्वस्त व्यक्ति को अपने स्थान पर नियुक्त कर सको जो एक मास तक तुम्हारे न लौटने पर फांसी ले सके तो तुम्हें एक मास का अवकाश घर जाने और लौटने के लिये मिल सकता है। डैमन के लिये ऐसा करना बहुत कठिन था अतः वह निराश होकर चुप हो गया।

डैमन का एक मित्र था जिसका नाम पीथियस था। उसे जब यह समाचार मिला तो वह डैमन को सूचित किये बिना ही राजा के पास पहुंचा और उनसे कहा "मुझे डैमन के स्थान पर रहना स्वीकार है। यदि वह लौट कर न आये तो मैं फांसी पर चढ़ने को तैयार हूँ"।

यह सुनकर राजा ने डैमन को घर जाने की अनुमति देदी और पीथियस को उसके स्थान पर कारागृह में बन्द करा दिया।

डैमन अपने परिवार वालों से अन्तिम भेंट करने चला गया। निश्चित तिथि आ पहुँची परन्तु डैमन का पता नहीं था। राजा ने पीथियस से कहा– "देख पीथियस! एक मास बीत गया है। तेरे मित्र ने तेरे साथ झूठा व्यवहार किया है जो वह अभी तक नहीं लौटा। अब तू फांसी के लिये तैयार होजा। कल तुझे फांसी देदी जायगी"। दूसरे लोगों ने कहा– "पीथियस! तू बहुत भोला-भाला है। क्या कोई मृत्युदंड का अभियुक्त राजा के राज्य से बाहर जाकर फिर फांसी पर चढ़ने के लिये स्वयं उपस्थित हो सकता है"?

पीथियस ने उत्तर दिया– "मेरा मित्र झूठा नहीं है। सम्भवत' समुद्र में तूफान उठ खड़ा हुआ होगा जिस कारण वह अब तक नहीं पहुँच पाया है। मेरा विश्वास है कि जैसे ही तूफान शांत होगा

तो मेरा मित्र यहाँ अवश्य पहुँच जायगा। परन्तु फिर भी कोई चिन्ता नहीं है। मैं फांसी खाने को तैयार हूँ। अपने प्राण देकर यदि मैं अपने मित्र के प्राण बचा सकूँ तो मैं अपने जीवन को धन्य समझूंगा"।

अगले दिन पीथियस को फांसी के तख्ते पर ले जाया गया। जल्लाद फांसी देने की तैयारी कर रहे थे। नगर के बहुत से व्यक्ति मित्र के लिये इस अद्भुत बलिदान का दृश्य देखने के लिये एकत्रित थे। इस करुणाजनक दृश्य को देखकर सभी दर्शकों की आंखों में आंसू भर आये।

पीथियस प्रसन्नता के साथ फांसी के तख्ते पर चढ़ गया। उसके मुख पर सचाई का तेज चमक रहा था। उसने दर्शकों को संबोधित करते हुये कहा— "भाइयो! मेरा मित्र झूठा नहीं है, वह किसी विवशता के कारण ही अब तक नहीं पहुंच पाया। मेरा विश्वास है कि वह आ ही रहा होगा"। यह कहकर उसने जल्लाद से कहा, "अब तू अपना कार्य पूरा कर"।

जल्लाद उसके गले में फंदा डाल कर खींचने ही वाला था कि इतने में दूर से एक आवाज सुनाई दी— "ठहरो! ठहरो! अभी फाँसी मत दो मैं आ पहुंचा"।

डेमन चला तो समय से ही था किन्तु वस्तुतः उसका जहाज तूफान में पड़ गया था। जैसे तैसे किनारे पर आकर जो भी सवारी मिली उसे लेकर दौड़ा। इस दौड़ में उसका घोड़ा भी मर गया। डैमन कई दिनों से भूखा था। उसके पैरों में छाले पड़ गये थे। उसे केवल यह धुन सवार थी कि ठीक समय पर पहुंचा जाय

और मित्र की प्राण-रक्षा की जाय।

जल्लाद का हाथ रुक गया। तभी डेमन दौड़ता हुआ आ पहुचा और शीघ्रता से फाँसी के तख्ते पर चढ गया और पीथियस को छाती से लगा कर बोला— "प्यारे मित्र! तुम धन्य हो। अब यह फन्दा अपने गले से निकाल लो, मैं तो आ ही पहुचा हू"। यह सुनकर पीथियस ने उत्तर दिया "नहीं मित्र! मेरी अपेक्षा तुम्हारा जीवन अधिक मूल्यवान् है। जीवित रहने पर तुम इस संसार मे बहुत उपकार कर सकते हो। मेरे जीवन का कोई महत्व नहीं है। अत अपने बदले मुझे ही मरने दो"।

सच्ची मित्रता के इस अद्भुत दृश्य को देखकर राजा का हृदय भर आया। वह उनके पास जाकर बोला— "तुम दोनों सचाई की मूर्ति हो। ऐसे श्रेष्ठ मनुष्यों को दण्ड देना उचित नहीं है"। यह सुनकर सभी बहुत प्रसन्न हुये। राजा ने उन्हें धन देकर आदर सत्कार के साथ विदा किया।

विशॉप और जीनवल्जीन

फ्रांस देश में एक निर्धन व्यक्ति रहता था जिसका नाम था जीनवल्जीन। वह एक दिन बहुत भूखा था, कहीं से भी खाना न मिला। पेट की ज्वाला से पीडित होकर रात्रि में उठा और एक घर से रोटी उठाने लगा। घर के मालिक ने देख लिया और पुलिस को सौंप दिया। उस पर अभियोग चला और बारह वर्ष की जेल हो गई।

कुछ माह जेल का कष्ट भोगते भोगते एक रात्रि मे अवसर पाकर वह जेल से भाग निकला। मार्ग मे एक घर का द्वार खुला था और

उसमें से प्रकाश आ रहा था। वह उसमें घुस गया। उस घर में एक सच्चा ईश्वर-भक्त पादरी रहता था जिसे बिशॉप कहा जाता था। उसकी एक बहिन थी। उस घर का द्वार सदा खुला रहता था और जो भी कोई भूखा, प्यासा, दुखिया वहाँ आता तो वे उसे प्रेम से भोजन कराते और उसके सोने का प्रबन्ध कर देते थे।

जीनवल्जीन जब घर में गया तो उन्होंने बड़े प्रेम से उसे भोजन कराया और बैठक में सुलाकर स्वयं भीतर सोने चले गये। जीनवल्जीन की निगाह एक चाँदी की बनी दीवट पर पड़ी। वह रात्रि में ही उसे उठाकर चलता बना। मार्ग में चलते समय पुलिस ने उसे पकड़ लिया और पीटते हुए बिशॉप के पास लाये। उन्होंने बिशॉप से पूछा—"क्या यह दीवट आपकी है? क्या यह आदमी रात्रि में आपके यहाँ ठहरा था"?

बिशॉप ने उत्तर दिया—"हाँ, यह दीवट मेरी ही है, परन्तु तुम इसे पकड़े क्यों हो? यह तो मेरा मित्र है। यह दीवट मैंने इसे दी है अतः तुम इसे छोड़ दो"।

बिशॉप का स्थान जनता में बहुत ऊँचा था। उसके कथन से पुलिस ने जीनवल्जीन को छोड़ दिया। बिशॉप ने उसको अपने घर पर कुछ दिन और ठहरा कर उससे कहा—"मित्र! ईश्वर के नाम पर बिना पूछे किसी की वस्तु न लिया करो। यदि तुम ईश्वर पर विश्वास करोगे तो जो कुछ तुम सच्चे हृदय से उससे माँगोगे वह तुम्हें अवश्य दे देगा। वह सभी का सच्चा मित्र है"। बिशॉप के ये वचन सुनकर उसे ऐसा जान पड़ा कि मानो ईश्वर उसके भीतर प्रवेश कर रहा है। वह ईश्वर का भक्त बन गया। उसने अपने

जीवन में अनेक दुखी मनुष्यों के कष्टों का निवारण किया। ऐसे व्यक्तियों को भी उसने विपत्ति से छुड़ाया जो उसके साथ शत्रु जैसा व्यवहार किया करते थे।

इब्राहीम

वास्तव में ईश्वर ही प्राणी-मात्र का सच्चा मित्र है (सुहृद सर्वभूतानाम्। गीता)। जो मनुष्य ईश्वर से मित्रता करता है वही किसी प्राणी से सच्ची मित्रता कर सकता है— चाहे दूसरा व्यक्ति उसके साथ शत्रुता का ही व्यवहार क्यों न करता हो।

एक दिन संत इब्राहीम ने मार्ग में एक शराबी को पड़े देखा। उसका शरीर धूल में सन गया था, मुख पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। इब्राहीम ने बहुत प्रेम के साथ उसे गोद में उठाकर पानी से उसका मुह धोया और कहा— "भाई! जिस मुह से भगवान् का पवित्र नाम लेना चाहिये उसे तू इतना गन्दा करता है"? जब वह मनुष्य होश में आया तो उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ और उसने शराब छोड़ दी। इब्राहीम के मन में यह अहंकार का भाव आया कि सच्चे मित्र को जो करना चाहिये वही कार्य मैंने आज इस व्यक्ति के साथ किया है। रात्रि में इब्राहीम को स्वप्न में ईश्वर ने दर्शन दिये और कहा, "इब्राहीम! तूने केवल एक दिन एक मूर्छित शराबी का मुँह धोया है और मैं तो प्रतिदिन, प्रतिक्षण तेरा और असख्य का अन्तःकरण धोया करता हूँ"। इब्राहीम ने लज्जित होकर कहा— "हे प्रभो! आप ही प्राणीमात्र के सच्चे मित्र हैं, आपसे बढ़कर सच्चा मित्र कौन हो सकता है"?

[८]

सच्ची भेंट

सची भेंट वह होती है जो सची कमाई से प्राप्त वस्तु की हो और सच्चे हृदय से प्रेम के साथ दी गई हो। जो व्यक्ति बेईमानी से, छल कपट से, दूसरों को कष्ट देकर प्राप्त हुई वस्तु को और प्रेम के बिना देता है वह सची भेंट नहीं होती।

शबरी के बेर

राजा रामचन्द्र जी जब वन में विचर रहे थे तो उनका नाम और उनकी ख्याति अनेक ऐसे बड़े-बड़े ऋषियों ने सुनी थी कि जिनके बड़े-बड़े आश्रम थे, जहां भांति-भांति के अन्न फल आदि थे। वहीं एक शबरी भीलनी भी अपनी छोटी-सी कुटिया में रहती थी। रामचन्द्र जी सबसे पहले उसकी कुटिया पर पहुचे। शबरी ने उन्हें सची श्रद्धाभक्ति के साथ बेर आदि जंगल के फल मूल भेंट किये। वह स्वयं चख-चख कर स्वादु फल उन्हें देती जाती और प्रेम में मतवाली होकर यह भूल गई कि मैं झूठे फल दे रही हूँ। राम भी अपने भक्त के प्रेम में इतने मस्त हो गये कि यह भूल गये कि ये झूठे फल हैं और बड़े प्रेम से खाते रहे*। रामचन्द्र जी को इस प्रेममयी भेंट में इतना अधिक मिठास आया कि जो नगर की अच्छी से अच्छी भेंट में नहीं मिला। अत: अपने घर पर,

* फलानि च सुपक्वानि मूलानि च मधुराणि च।
स्वयमास्वाद्य माधुर्यं परीक्ष्य परिभक्ष्य च॥
पश्चान्निवेदयामास राघवाभ्यां दृढव्रता।
फलान्यास्वाद्य काकुत्स्थस्तस्यै मुक्तिं परां ददौ॥

पद्म पुराण

गुरु के घर में, मित्रों के यहां या सुसराल इत्यादि में जहां भी उनका आतिथ्य सत्कार हुआ वे इन प्रेम-सुधा-रस-पूर्ण फलों की सराहना करना नहीं भूले :

घर, गुरु गृह, प्रिय सदन, सासुरे भई जब जह पहुनाई ।
तब तह कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई ॥

दुर्योधन के मेवा त्यागे

महाभारत युद्ध के अवसर पर श्रीकृष्ण सन्धि कराने के लिये पाण्डवों के दूत बनकर हस्तिनापुर पहुचे । दुर्योधन ने उनके लिये अनेक प्रकार के भोजन तैयार कराये थे । उसने उन्हें भोजन के लिये निमंत्रित किया । परन्तु श्रीकृष्ण ने उसे स्वीकार नहीं किया । दुर्योधन ने इसका कारण पूछा । श्रीकृष्ण ने कहा :

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुन ।
न च सम्प्रीयसे राजन् चैवापद्गता वयम् ॥
महा० उ० ९१।२५॥

हे राजन् ! दो अवस्थाओं में भोजन ग्रहण किया जाता है— प्रथम तब जबकि कोई प्रेमपूर्वक देता हो और दूसरे तब जबकि कोई विपत्ति में हो । मैं विपत्ति में नहीं हूँ इस कारण मुझे लेने की आवश्यकता नहीं है । दूसरे तुमने प्रेम से नहीं दिया है इसलिये भी नहीं ले सकता । ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने दुर्योधन की भेंट का परित्याग कर दिया और विदुर के घर चले गये जहाँ उन्होंने सच्चे हार्दिक प्रेम के साथ अर्पण किये हुए भोजन को ग्रहण किया ।

विदुरान्नानि बुभुजे शुचीनि गुणवन्ति च ॥
महा० उ० ९१।४१॥

दीवान की कचौरी त्यागी

गुरु नानक को एक दीवान ने कचौरी मिठाई आदि बहुत सुन्दर भोजन करने के लिये निमंत्रित किया। नानकदेव जी ने यह कहकर उसे अस्वीकार कर दिया कि इसमें सच्ची श्रद्धा, सच्चा प्रेम नहीं है। यह अत्याचार की कमाई है और इसमें ग़रीबों का रक्त भरा है। इसके विपरीत उन्होंने एक गरीब बढ़ई की रोटियां बहुत प्रेम से खाईं जो कि सच्ची श्रद्धा और प्रेम से अर्पण की गई थीं, और दूसरों की सेवा से, ईमानदारी की कमाई से प्राप्त हुई थीं।

एक मुट्ठी दाल

जलाल एक बुद्धिमान् और प्रसिद्ध उपदेशक थे। एक दिन दो तुर्क कुछ भेंट लेकर उनके पास आये। वे उनसे उपदेश सुनने की इच्छा रखते थे। चूंकि वे बहुत निर्धन थे अतः उनकी भेंट भी साधारण थी एक मुट्ठी दाल। जलाल के कुछ शिष्यों ने उस भेंट की ओर अवज्ञा की दृष्टि से देखा परन्तु जलाल ने कहा: "पैगम्बर मुहम्मद को एक बार अपने किसी कार्य के लिये धन की आवश्यकता पड़ी। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि जो कुछ वे दे सकते हों दें। कुछ ने अपनी सम्पत्ति का आधा भाग दिया, कुछ ने तिहाई। अब्बूबकर ने अपना बहुत सारा धन उन्हें दे दिया। मुहम्मद को इस प्रकार बहुत से शस्त्रास्त्र और पशु आदि मिल गये। अन्त में एक निर्धन स्त्री आई। उसने तीन खजूरें और गेहूँ की एक रोटी भेंट में दी। यही उसकी कुल पूँजी थी। यह देखकर बहुत से लोग हँस पड़े। पर पैगम्बर ने उन्हें अपना एक स्वप्न सुनाया जिसमें उन्होंने कुछ स्वर्गदूतों को हाथ में एक तराजू लिये हुए देखा था;

उन्होंने एक-पलड़े में सबकी भेंटें रखीं और दूसरे में केवल उस निर्धन स्त्री की तीन खजूरें और रोटी। तराजू स्थिर रही क्योंकि यह पलड़ा भी उतना ही भारी निकला जितना पहला"।

जलाल ने आगे समझाया—

"एक साधारण भेंट यदि सच्चे हृदय से दी गई है तो वह भी उतना ही मूल्य रखती है जितना कि कोई बहुमूल्य भेंट"।

यह सुनकर दोनों तुर्क बड़े प्रसन्न हुए और फिर किसी को भी एक मुट्ठी दाल पर हँसने का साहस नहीं हुआ।

(सुन्दर कहानियाँ)

[६]

सच्ची श्रद्धा—आस्तिकता

श्रद्धा का अर्थ है ईश्वर में विश्वास, वेदादि श्रेष्ठ शास्त्रों में विश्वास। यह श्रद्धा जब हृदय और मन की इतनी गहराई में पहुँच जाती है कि भयंकर से भयंकर संकट के अवसर पर भी मनुष्य अपने आपको इनके ऊपर छोड़ देता है और लेशमात्र भी भयभीत नहीं होता, अपने व्रत से नहीं गिरता, तब यह सच्ची कही जाती है। योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने लिखा है कि यह कल्याण करने वाली माता के समान योगी की रक्षा करती है:

सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति ।१।२०॥

कुमारिल भट्ट का जीवन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

कुमारिल भट्ट

कुमारिल भट्ट का आविर्भाव उस समय हुआ जबकि भारत में

चारों ओर अनेक अवैदिक धर्मों की दुन्दुभि बज रही थी। ईश्वर, वेद, वैदिक कर्मकाण्ड और वैदिक धर्म पर खुल्लम-खुल्ला आक्रमण किये जाते थे। कुमारिल भट्ट ने वेद और मीमांसा आदि शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया था। इनके प्रति इनके हृदय में इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा थी कि बौद्ध और जैनियों के द्वारा इन पर आक्रमण होते देखकर इन्होंने इसका प्रतीकार करने का निश्चय किया। परन्तु जब तक बौद्ध धर्म का पूरा ज्ञान न हो तब तक यह कार्य संभव नहीं था। परन्तु बौद्ध धर्म-ग्रन्थ पढ़ने के लिये पहले बौद्ध धर्म में दीक्षित होना अनिवार्य था। अतएव इन्होंने दूसरा कोई उपाय न देखकर बौद्ध धर्म में दीक्षा ग्रहण करली और ये अपने समय के सर्वश्रेष्ठ आचार्य धर्मपाल (६००–६३५ ई०) से, जो कि बौद्ध धर्म के प्रधान पीठ नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे, बौद्ध धर्म-ग्रन्थ पढ़ने लगे।

एक दिन धर्मपाल अपने शिष्यों के सामने बौद्ध धर्म की व्याख्या कर रहे थे। प्रसंगवश उन्होंने आवेश में आकर वेदों की भारी निन्दा की। इस निन्दा को सुनकर वेदों मे प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति और पाण्डित्य रखने वाले कुमारिल की आँखों से अश्रुपात होने लगा। पास बैठे हुए एक भिक्षुक ने इस घटना को देखा और धर्मपाल का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। आचार्य धर्मपाल ने जब देखा कि वेदों की निन्दा को सुनकर एक बौद्ध भिक्षुक के नेत्रों से आँसू निकल रहे हैं तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने कुमारिल भट्ट से इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा कि कुमारिल! क्या तुम इस कारण रो रहे हो क्योंकि मैंने वेदों की निन्दा की है?

कुमारिल— "जी हाँ ! मेरे अश्रुपात का कारण यह है कि आप वेदों के गूढ़ रहस्यों को बिना जाने इनकी मनमानी निन्दा कर रहे हो"।

इस बात को सुनकर धर्मपाल अत्यन्त रुष्ट हो गये और उन्होंने इनको वहाँ से निकाल देने की आज्ञा देदी। परन्तु दुष्ट विद्यार्थियों ने इन्हें अपना विरोधी ब्राह्मण समझकर जीवित जाने देना उचित न समझा। उन्होंने इन्हें बलपूर्वक पकड़कर नालन्दा विहार के ऊँचे शिखर से नीचे गिरा दिया। आस्तिक कुमारिल ने अपने आपको असहाय देखकर वेदों की शरण ली और गिरते समय इस प्रकार ऊँचे स्वर से कहा :

पतन् पतन् सौधतलान्यरोरुह,
यदि प्रमाणं श्रुतयो भवन्ति ।
जीवेयमस्मिन् पतितोऽसमस्थले,
मज्जीवने तच्छ्रुतिमानता गतिः ॥
शा० दि० ७।६८॥

"यदि वेद प्रमाण हैं तो प्रासाद के शिखर से नीचे गिरने पर भी मेरी कोई हानि नहीं होगी और मैं इस ऊँचे नीचे स्थान पर गिरकर भी जीवित ही रहूँगा"। उपस्थित व्यक्तियों ने आश्चर्य से देखा कि ऊँचे प्रासाद-शिखर से गिरने पर भी कुमारिल के शरीर को कोई चोट नहीं लगी। परन्तु उनकी एक आँख फूट गयी। इस पर कुमारिल ने कहा :

यदीह सन्देहपदप्रयोगात्, व्याजेन शास्त्रश्रवणाच्च हेतोः ।
ममोच्चदेशात् पततो व्यनङ्क्षीत्, तदेकचक्षुर्विधिकल्पना सा ॥
शां० दि० ७।६६॥

"मैंने यदि वेद प्रमाण हैं" यहाँ 'यदि' इस सन्देह पद का प्रयोग किया था और अपने भावों को छिपाकर बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया था, इस कारण मेरी एक आँख नष्ट हो गई है। यदि यह सन्देह न होता और अपने भावों को छिपाते हुए बौद्ध शास्त्र न पढ़ता तो यह चोट भी न लगती।

इस घटना के होने पर कुमारिल ने धर्मपाल को खुल्लम खुल्ला अपने धर्म की वेदों से श्रेष्ठता सिद्ध करने की चुनौती दे दी। गुरु और शिष्य का आपस मे शास्त्रार्थ हुआ, धर्मपाल पराजित हुए और उन्होंने अपने शरीर को उस समय की प्रथा के अनुसार तुषानल (भूसे की अग्नि मे) जला दिया।

कर्णाटक देश मे सुधन्वा नामक राजा राज्य करता था। उस देश मे अनेक अवैदिक धर्म प्रबल हो रहे थे। कुमारिल ने राजा को इन धर्मों और वैदिक धर्म मे श्रेष्ठता की परीक्षा करने की प्रेरणा की। राजा ने एक विषैले सर्प को एक घड़े मे बन्द करके ब्राह्मणों और दूसरे मतावलम्बियों से इसके विषय में पूछा। दूसरे दिन का वादा करके दूसरे मतावलम्बी घर पर लौट गये किन्तु कुमारिल ने उसका उत्तर उसही समय लिखकर रख दिया। रात भर दूसरे लोगों ने अपने इष्टदेव की आराधना की। प्रात काल होने पर उन्होंने राजा को कहा कि घड़े के भीतर सर्प है। कुमारिल के पत्र मे भी यही उत्तर मिला। फिर राजा ने पूछा कि सर्प के किसी विशिष्ट अंग पर कोई चिन्ह है क्या ? दूसरे मतावलम्बियों ने समय की प्रार्थना की किन्तु कुमारिल ने तुरन्त उत्तर दिया कि सर्प के सिर पर दो पैर का चिन्ह बना हुआ है। घड़ा खोलने पर कुमारिल

का कथन सत्य निकला। राजा के हृदय में वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा जागृत हो गई और उन्होंने वैदिक मार्ग की स्थापना की। इस प्रकार कुमारिल की अद्‌भुत प्रतिभा, विद्वत्ता और अलौकिक शक्ति के प्रभाव से वैदिक धर्म की दुन्दुभि चारों ओर बजने लगी।

परन्तु उनके हृदय में यह भाव आया कि मैंने दो महापाप किये हैं— एक अपने बौद्ध गुरु का तिरस्कार और दूसरा ईश्वर में पूरी आस्था रखते हुए भी कर्म की प्रधानता सिद्ध करने के लिये उसका खण्डन। इस कारण इन दोनों अपराधों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये उन्होंने अपनी देह को तुषानल में दग्ध कर देने का निश्चय किया।

उधर शंकराचार्य ने कुमारिल भट्ट की विद्वत्ता की प्रशंसा सुनी थी। वे उनसे मिलने के लिये उत्तर काशी से प्रयाग पहुँचे। किन्तु वहाँ उन्हें अपने शरीर को दग्ध करते हुए देखकर शंकराचार्य को बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने देखा कि कुमारिल का निचला शरीर जल जाने पर भी मुख के ऊपर वही विलक्षण कान्ति और शान्ति विराजमान है। शंकराचार्य ने इस कठोर व्रत का कारण पूछा। कुमारिल के बतलाने पर शंकराचार्य ने कहा— "आपके पवित्र चरित्र में पाप की लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है। यदि आप आज्ञा करें तो मैं कुछ जलबिन्दुओं को छिड़ककर आपके शरीर को पहले जैसा स्वस्थ करदूँ"। शंकर के इन वचनों को सुनकर तथा उनके विचित्र प्रभाव को देखकर भट्ट कुमारिल बहुत प्रभावित हुए और अपने भावों को प्रकट करते हुए बोले— "विद्वन्! मैं जानता हूँ कि मैं निर्दोष हूँ। वैदिक धर्म के प्रचार के लिये मुझे कुछ निषिद्ध कार्य

अवश्य करने पड़े हैं किन्तु मेरा अन्तःकरण शुद्ध, सच्चा था। मेरे भाव दोष-रहित थे। मैं आपके प्रभाव को भी जानता हूँ। आप मुझे स्वस्थ कर सकते हैं, परन्तु मैं अंगीकृत व्रत को नहीं छोड़ सकता" :

नाभ्युत्सहे किन्तु यतिक्षितीन्द्र।
सङ्कल्पितं हातुमिदं व्रताग्र्यम् ॥
शं० दि० ७।११२॥

यह कहते हुए उन्होंने अपने शरीर को तुषानल में दग्ध कर दिया।

कुमारिल भट्ट में सच्ची श्रद्धा, आस्तिकता थी। उनका हृदय पूरी तरह शुद्ध, सच्चा था। जिस गुरु से उन्होंने बौद्ध-ग्रन्थ पढ़े थे उनके मत का खण्डन करने और ईश्वर के अस्तित्व को मानते हुए भी कर्मकाण्ड के प्रचार के उद्देश्य से उसके अस्तित्व के निषेध करने में जो थोड़ी सी असत्यता उन्हें प्रतीत होती थी उसे ही पूरी तरह धो डालने के लिये उन्होंने यह भारी प्रायश्चित्त किया था।

[१०]
सच्ची गुरुभक्ति

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।२३॥

जिसकी परमदेव में भक्ति है और जैसी परमदेव में है वैसी ही गुरु में है उस महात्मा को दिया हुआ ज्ञान प्रकाशित होता है।

सच्चा गुरु वह होता है जिसने ब्रह्म का दर्शन किया है और

जो उसमें सदा निवास करता है। ऐसे गुरु मे ऐसी शक्ति प्रकट हो जाती है कि जिससे वह शिष्य के भीतर की स्थिति को जान लेता है और उसके भीतर आवश्यक परिवर्तन करके उसे मौखिक उपदेश से, स्पर्श करके अथवा कभी कभी बिना स्पर्श किये ही संकल्प के द्वारा आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान प्रदान कर देता है। ऐसे गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा-भक्ति रखने से और सच्चे हृदय से उसकी सेवा करने से शिष्य को अनायास ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है।

सत्यकाम

सत्यकाम नामक एक बालक था। उसके मन में विद्या पढ़ने की इच्छा हुई। उसने माता से कहा कि माता जी! मेरी इच्छा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्या अध्ययन करने की है अतः मुझे अपना गोत्र बतलादो।

माता ने कहा— "पुत्र! मैं यौवन काल में अनेक ऋषियों की सेवा-सुश्रूषा किया करती थी। किस गोत्र वाले व्यक्ति से तेरी प्राप्ति हुई यह मैं नहीं जानती। मैं केवल इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है। अतः तू गुरु से कह देना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूँ"।

सत्यकाम गौतम गोत्र के हारिद्रुमत नामक ऋषि के पास विद्या अध्ययन के लिये गया। गुरु ने पूछा कि तेरा क्या गोत्र है? सत्यकाम ने उत्तर दिया कि मैं यह नहीं जानता। मैंने माता से गोत्र पूछा था। उसने उत्तर दिया है— "मैं यौवन काल में अनेक ऋषियों की सेवा-सुश्रूषा किया करती थी। किस गोत्र वाले व्यक्ति से तेरी प्राप्ति हुई यह मैं नहीं जानती। मैं केवल इतना ही जानती

हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है"। इस प्रकार मैं सत्यकाम जाबाल हूँ।

गुरु ने सत्यकाम की बात को सुनकर सोचा कि जो माता अपने जीवन की ऐसी गुह्य बात कह सकती है और जो बालक इसे सत्य सत्य कह सकता है वे ब्राह्मण ही हैं, चाहे उनका उद्योग-धन्धा दूसरों की सेवा करना (परिचर्या) ही क्यों न हो। अतः गुरु ने उसका उपनयन संस्कार करा दिया। उन्होंने चारसौ दुर्बल गायों को छाँट कर उसे दिया और कहा कि जब ये एक सहस्र हो जायँ तो चले आना, तभी तुझे विद्या दान करेंगे।

सत्यकाम चारसौ गायों को लेकर अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ गुरु की सेवा में लग गया। उसके मन में लेशमात्र भी यह भाव नहीं आया कि मैं तो गुरु के पास विद्या पढ़ने आया था, उन्होंने पढ़ाने के बजाय मुझे गाय चराने में लगा दिया। वह अनेक वर्षों तक गायों को चराता रहा। जब वे एक सहस्र हो गईं तो एक बैल ने उससे कहा– "हे वत्स अब हम एक सहस्र हो गये हैं अब तुम हमें गुरुकुल में ले चलो"। बैल ने फिर कहा कि "कहो तो मैं तुम्हें ब्रह्म के एक अंश का कथन करूँ"। सत्यकाम ने कहा– "हाँ कहो"। ऋषभ ने उसे ब्रह्म के एक अंश का उपदेश दिया। फिर मार्ग में चलते-चलते उसे अग्नि, हंस और मद्गु नामक एक पक्षी ने ब्रह्म के एक-एक अंश का उपदेश दिया।

जब वह गुरुकुल में पहुंचा तो आचार्य ने पूछा– "सत्यकाम! ब्रह्मज्ञानी के समान तेरा मुख जान पड़ता है, तुझे किसने उपदेश

दिया है" ? सत्यकाम ने कहा– "किसी मनुष्य ने नहीं दिया, मनुष्य से भिन्न ने दिया है। मैंने सुना है कि गुरु से प्राप्त की हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतः आप ही मुझे उपदेश दें"। आचार्य ने उसे वही उपदेश दिया और उसे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो गया।

संसार के प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक घटना के भीतर ब्रह्म और ब्रह्म का ज्ञान भरा हुआ है। जब तक मनुष्य की आँखों पर अज्ञान और असत्य का आवरण पड़ा रहता है तो यह ज्ञान उससे ओझल रहता है। जब मनुष्य सच्चे हृदय से गुरु की सेवा करता है तो गुरु के आत्मिक प्रभाव से उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, भीतरी आँखों पर से अज्ञान का आवरण हट जाता है और समस्त प्रकृति, प्राकृतिक पदार्थ और जीव ब्रह्मज्ञान को प्रकट करने लगते हैं। गुरु का मौखिक उपदेश उसके संशय को दूर हटा देता है और उसका आत्मिक प्रभाव उसमें स्थित कर देता है।

शेक्सपीयर ने लिखा है कि जन-साधारण से दूर हमारे इस एकान्त जीवन में वृक्ष बातें करते दिखाई देते हैं, दौड़ते हुए निर्झर पुस्तकें, पत्थर धर्मोपदेश देते हुए और सभी पदार्थ शिवम् सुन्दरम् दिखाई देते हैं[1]। प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने लिखा है कि उसके शिक्षक थे केवल वन, निर्झर, नक्षत्रमंडित आकाश की शान्ति और निर्जन पर्वतों में विद्यमान निद्रा[2]। कवि की आँखों को जड़ कहे

(1) This our life free from public haunts,
Finds tongues in trees, books in running brooks,
Sermons in stones and good in every thing
—As You Like It

(2) His only teachers were the woods and rills,
The silence that is in the starry sky,
The sleep that is among the lonely hills

जाने वाले पदार्थ सजीव दिखाई देते हैं। सच्चे कलाकार को प्रकृति के बीभत्स दृश्यों में भी विचित्र प्रकार का सौन्दर्य दिखाई देता है। दत्तात्रेय ऋषि को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, कबूतर, अजगर, हाथी, हिरण आदि ने आत्मज्ञान सिखाया था। अतः सच्चे गुरुभक्त को यदि प्राकृतिक पदार्थ और साधारण जीव-जन्तु ब्रह्म का रहस्य प्रकट करने लगें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

उद्दालक आरुणि

आपोद धौम्य नामक एक ऋषि अपने समय में वेद आदि शास्त्रों के बहुत उच्चकोटि के अनुभवी आचार्य थे। उनके आरुणि, उपमन्यु और वेद नामक तीन प्रसिद्ध शिष्य थे। उन्होंने एक दिन आरुणि से कहा– "वत्स! वृष्टि अधिक हो रही है। संभव है खेत की मेंडें टूट गई हों। जाकर देख आओ, यदि कोई टूटी हो तो बाँध देना"। आरुणि ने जाकर देखा तो एक स्थान पर मेंड़ टूटी हुई थी। उसने उसे बाँधने का प्रयत्न किया किन्तु वह किसी प्रकार भी न बंध सकी। तब और कोई उपाय न देखकर वह स्वयं वहाँ लेट गया और पानी को रोक दिया। सायंकाल हो गई। आचार्य को यह स्मरण न रहा कि हमने आरुणि को कहीं भेजा है। उन्होंने आरुणि को न देखकर दूसरे शिष्यों से पूछा कि आरुणि कहां गया है? शिष्यों ने उत्तर दिया कि आपने उसे खेत की मेंड़ बांधने भेजा था। आचार्य ने कहा– "अच्छा चलो देखें वह अभी तक क्यों नहीं आया"। उन्होंने खेत पर जाकर उसे पुकारा - "हे आरुणि! वत्स कहाँ हो, चले आओ"। यह सुनकर आरुणि उठकर गुरुजी के पास आगया और कहा— "गुरु जी! यहाँ पानी किसी प्रकार भी रुकता

नहीं था, अत और कोई उपाय न देखकर मैं लेट गया था। आपकी पुकार सुनकर उठकर आया हू। क्या आज्ञा है कहे।"

गुरु जी ने कहा– "वत्स! मैं तेरी सेवा से बहुत संतुष्ट हूँ। तूने मेरे वचनों का पूरी तरह पालन किया है अत तुझे समस्त वेद और समस्त धर्मशास्त्र प्रकाशित हो जायेंगे और चूकि तू खेत की मेड मे लेटकर उसे छोड कर उठा है इसलिये तेरा नाम उद्दालक* होगा"। यह उद्दालक ऋषि छान्दोग्य उपनिषद् के प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी ऋषि हैं जिनके पुत्र का नाम श्वेतकेतु है। यही कठोपनिषद् के प्रसिद्ध औद्दालकि आरुणि हैं जो मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाले प्रसिद्ध नचिकेता के पिता हैं।

एकलव्य

महाभारत काल मे द्रोण धनुर्विद्या के सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते थे। कौरव और पाण्डव राजकुमार उनसे शिक्षा ग्रहण किया करते थे। द्रोणाचार्य की ख्याति को सुनकर दूर दूर के राजकुमार और अन्य क्षत्रिय युवक उनसे शिक्षा प्राप्त करने आने लगे। उनमें हिरण्यधनु नामक निषादराज का पुत्र एकलव्य भी था। उसने भी द्रोणाचार्य से धनुर्विद्या सीखने की प्रार्थना की। परन्तु द्रोणाचार्य ने उसे निषाद-पुत्र होने के कारण शिष्य रूप में स्वीकार नहीं किया।

एकलव्य द्रोणाचार्य को गुरु मान चुका था। उनके शिक्षा देना मना करने पर भी उसके हृदय में लेशमात्र भी विकार नहीं

* उत्=ऊर्ध्वम्, दारयति (दारयित्वा उत्तिष्ठति) इति दारक, रलयो अभेदात्—नीलकण्ठ।

आया और वही गुरुभक्ति बनी रही। वह उन्हें प्रणाम करके वन में चला गया और वहां उनकी मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसमें सच्चे हृदय से गुरु की भावना रखते हुए धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगा। वह बहुत नियम-संयम से रहता था। इस अभ्यास के कारण उसने बाणों के ग्रहण करने, धनुष पर चढ़ाने और छोड़ने में बहुत अधिक फुर्ती एवं कुशलता प्राप्त करली।

एक बार द्रोणाचार्य की अनुमति लेकर सब राजकुमार शिकार खेलने वन में गये। उनके पीछे पीछे एक मनुष्य आवश्यक सामग्री लेकर गया जिसके साथ एक कुत्ता भी था। राजकुमारों के वन में विचरण करते समय वह कुत्ता एकलव्य के पास पहुंच गया। एकलव्य के शरीर का रंग काला था। वह काला मृग चर्म और जटाधारण किए हुए था। एकलव्य के इस विचित्र से आकार को देखकर कुत्ता उसके पास खड़ा होकर भौंकने लगा। एकलव्य ने उसके भौंकते हुए खुले मुख में सात बाण इस फुर्ती से मारे कि मानो एक साथ चलाये हों। कुत्ते का भौंकना बन्द हो गया। बाणों से भरे मुखवाला वह कुत्ता पाण्डवों के पास चला गया। उसे देख कर पाण्डवों को बहुत आश्चर्य हुआ। वे हाथ की फुर्ती और शब्द के अनुसार लक्ष्य वेधने की शक्ति को देखकर लज्जित हो गए। तदनन्तर वे खोजते हुए एकलव्य के पास पहुचे और उसे बाण चलाते देखकर उसका परिचय पूछा। एकलव्य ने उत्तर दिया कि मैं निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र और द्रोणाचार्य का शिष्य हूँ। उन सब राजकुमारों ने यह समाचार द्रोणाचार्य को सुनाया। अर्जुन ने द्रोणाचार्य से एकान्त में पूछा कि गुरु जी! आपने पहले मुझसे यह कहा था कि मेरा कोई भी शिष्य तुमसे बढ़कर नहीं

होगा। तब फिर आपका यह शिष्य निषादराज का पुत्र न केवल मुझसे कुशल अपितु संपूर्ण पृथ्वीलोक में सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी कैसे हुआ? द्रोणाचार्य अर्जुन को साथ में लेकर एकलव्य के पास पहुंचे। वहां उन्होंने देखा कि एकलव्य एकाग्रचित्त होकर निरन्तर बाणों को चला रहा है। एकलव्य की दृष्टि जब द्रोणाचार्य पर पड़ी तो उसने आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और उनके चरणों में सिर रख कर प्रणाम किया। उसने उनकी विधि-पूर्वक पूजा की और हाथ जोड़े सामने खड़े होकर कहा: "गुरु जी! मैं आपका शिष्य हूं। मैं अपने आपको आपके चरणों में अर्पण करता हूँ। मेरे लिए जो आज्ञा हो कहने की कृपा करें"।

द्रोणाचार्य ने एकलव्य से पूछा कि क्या तुम मेरे शिष्य हो? एकलव्य ने उत्तर दिया, "हां गुरु जी"! द्रोणाचार्य ने फिर कहा, "अच्छा यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरु दक्षिणा दो"। उनके वचनों को सुनकर एकलव्य प्रसन्न हुआ और उसने कहा, "हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ आचार्य! मेरे पास जो भी है उसमें से कुछ भी ऐसा नहीं है जो आपके लिए अदेय हो। अत: स्वयं आप ही आज्ञा करें कि क्या दूं"। द्रोणाचार्य ने कहा कि अपने दायें हाथ का अंगूठा दे दो (अङ्गुष्ठो दक्षिणो दीयताम्)।

एकलव्य सदा सत्य का दृढ़ता के साथ पालन किया करता था। वह द्रोणाचार्य के वज्र के समान कठोर, हृदय-विदारक शब्दों को सुनकर भी अपने वचनों पर दृढ़ रहा और उसने चित्त में लेश मात्र भी कष्ट का अनुभव किए बिना, पहले के समान प्रसन्न-चित्त और प्रसन्न-मुख रहते हुए अपने दायें हाथ के अंगूठे को काटकर

द्रोणाचार्य को दे दिया* ।

एकलव्य से गुरु जी ने जो वस्तु दक्षिणा में मांगी थी वह उसकी प्रियतम थी। धनुर्विद्या को प्राप्त करके वह विश्व का एक महान् योद्धा, एक सर्वश्रेष्ठ वीर होने की जो महत्वाकांक्षा अपने हृदय में रखता था, दायें हाथ के अंगूठे के दे देने पर उस पर वज्राघात हो गया। बाहरी दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि उसका जीवन अंधकारमय हो गया। परन्तु सत्य का पुरस्कार तो स्वयं भगवान् देते हैं, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, बाहरी रूप में नहीं तो आन्तरिक रूप में। हरिश्चन्द्र, भीष्म, सुकरात, दयानन्द, ईसा, गाँधी आदि को सत्य के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने पर यदि कोई पुरस्कार मिला होगा तो निश्चय ही एकलव्य को भी सच्ची गुरुभक्ति में, सत्य का पालन करने में, अपना सर्वस्व अर्पण कर देने पर उचित पुरस्कार अवश्य मिला होगा और निश्चय ही वह सभी स्थूल पुरस्कारों की अपेक्षा असंख्य गुणा महान् होगा। सत्य का सच्चा पुरस्कार तो स्वयं भगवान् और उनका ज्ञान, आनन्द, शान्ति, देवत्व, अमृतत्व है। इन अमूल्य फलों को मोल लेने के लिये कौनसी ऐसी प्रिय से प्रिय, महान् से महान् लौकिक वस्तु हो सकती है जिसे विवेकी मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक न दे सके।

---

* एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम् ।
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन् सत्ये च नियतः सदा ॥५७
तथैव हृष्टवदनस्तथैवादीनमानसः ।
छित्त्वाऽविचार्य तं प्रादाद् द्रोणायाङ्गुष्ठमात्मनः ॥५८

महा० सभा० १३१॥

तोटकाचार्य

मैसूर रियासत के कडूर जिले में तुङ्गभद्रा नदी के किनारे प्राचीन काल में ऋषि शृङ्ग ने तपस्या की थी। एक बार शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए अपने शिष्यों के साथ वहाँ पहुचे। उस स्थान के सौन्दर्य से मुग्ध होकर उन्होंने वहाँ एक मठ स्थापित करने का विचार किया। शिष्यों ने आचार्य के इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। शिष्यों के रहने योग्य कुटिया तैयार हो गई।

शंकराचार्य का एक शिष्य था जिसका नाम गिरि था। वह नाम से ही गिरि न था बुद्धि से भी पत्थर जैसा जड़ था परन्तु था शंकर का अनन्य भक्त।

शंकराचार्य जब अपने भाष्यों की व्याख्या अपने विद्वान् शिष्यों के सामने किया करते थे तब वह भी सुना करता था, किन्तु उसकी किसी भी बात से यह पता न चलता था कि वह उसे समझता है। इसलिये दूसरे शिष्य उसे जड-मूर्ख ही समझा करते थे। एक दिन वह शंकराचार्य की कौपीन धोने तुङ्गभद्रा नदी पर गया हुआ था। शंकराचार्य को उस समय भगन्दर का रोग था और उस कौपीन पर रक्त का चिन्ह लग गया था। जब वह चिन्ह किसी प्रकार भी पानी से धोने से न मिटा तो गिरि ने उसे दाँतों से रगड़ कर मिटाने का प्रयत्न किया। इस कार्य मे उसे पर्याप्त विलम्ब हो गया। दूसरी ओर शंकराचार्य के पास उनके शिष्य पाठ पढ़ने को बैठे थे। शंकराचार्य ने गिरि की प्रतीक्षा मे पाठ रोके रखा। पद्मपाद आदि शिष्यों को यह बात अच्छी न लगी। उन्होंने सोचा

कि इस पत्थर-बुद्धि शिष्य के लिये गुरु जी का इतना आग्रह कि पाठ रोक दिया। शंकराचार्य ने शिष्यों के इस भाव को ताड़ लिया किन्तु उनसे कुछ भी नहीं कहा। उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से जड़-बुद्धि माने जाने वाले शिष्य के हृदय में ज्ञान का संचार किया। जिस समय गिरि लौटा तो वह अध्यात्म-विषयक श्लोकों को बोलता हुआ आया। यह दृश्य देखकर शिष्यों को बहुत आश्चर्य हुआ। जिसे वे वज्र मूर्ख समझते थे वह अध्यात्म विद्या का इतना प्रकांड पण्डित निकला। जिस छन्द में उसके वाक्य निकले थे वह तोटक था अतः शंकराचार्य ने उसका नाम तोटकाचार्य रख दिया। शंकराचार्य ने ज्योतिर्मठ की अध्यक्षता का भार इन्हे ही सौंपा था।

विवेकानन्द

रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों में विवेकानन्द प्रधान थे। इनका नाम नरेन्द्र था। बी. ए. परीक्षा उत्तीर्ण की। पहले तो ये नास्तिक ही थे। रामकृष्ण की ईश्वर, माता सम्बन्धी बातों को सुनकर हँसी मे उड़ा दिया करते थे। किन्तु रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आते आते धीरे धीरे आस्तिक बन गये। उनके सम्बन्ध में एक बार रामकृष्ण परमहंस ने कुछ व्यक्तियों से कहा था— "यह जो लड़का देख रहे हो जन्म से ही ब्रह्मज्ञानी है। इसके जैसे लड़के नित्य सिद्ध की श्रेणी के हैं। ये कभी भी कामिनी कांचन की माया में बद्ध नहीं होते"। रामकृष्ण परमहंस उन्हें कभी शुकदेव, कभी शंकर, कभी नारायण ऋषि आदि नामों से पुकारा करते थे।

विवेकानन्द की गुरुभक्ति बहुत ही विलक्षण थी। रामकृष्ण परमहंस के गले में रसौली निकली। शशी, काली, नरेन्द्र

(विवेकानन्द) आदि अनेक व्यक्ति उनकी सेवा-सुश्रूषा किया करते थे। डाक्टर ने कहा— यह रोग छूत का है। शिष्य लोग घबड़ा गये और उनके पास जाने में संकोच करने लगे। एक दिन डाक्टर ने आकर घाव को धोया। घाव से निकले रक्त, पीप और धोने का जल एक गिलास में रक्खे थे और सब शिष्य लोग उसे देखकर नाक चढ़ा रहे थे। प्रश्न था कौन ऐसा वीर है जो इसे उठाकर फेंक दे? छूत लग जाने का डर जो ठहरा। विवेकानन्द ने सबके सामने उस गिलास को उठाकर पी लिया। विवेकानन्द के इस विचित्र व्यवहार को देखकर पास में बैठे लोग आश्चर्यचकित हो गये*।

ऐसी भक्ति रखने वाले शिष्य का अन्तःकरण पूरी तरह गुरु के प्रति खुला रहता है। और यदि गुरु सच्चा ज्ञानी है तो उसका ज्ञान और उसकी शक्ति सहज ही शिष्य में संचार कर जाते हैं।

दयानन्द

दयानन्द मथुरा में दण्डी संन्यासी विरजानन्द से पढ़ा करते थे। एक दिन दयानन्द से दण्डी जी अप्रसन्न हो गये और उन्हें लाठी से पीटा जिससे दण्डी जी का हाथ दर्द करने लगा। इस दर्द को देखकर दयानन्द ने उनके हाथ को मलते हुए कहा कि गुरु जी! मेरा शरीर वज्र के समान कठोर है। इसके ऊपर प्रहार करने में आपके कोमल हाथों को पीड़ा पहुंचती है, अतः आप मुझे न मारा करें। इस चोट का चिन्ह दयानन्द के शरीर पर अन्त समय तक बना रहा जिसे देखकर वे दण्डी जी के उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट किया करते थे।

* रामकृष्ण लीलामृत

एक बार फिर दण्डी जी ने अप्रसन्न होकर दयानन्द को सोटा मारा। दण्डी जी के एक भक्त नैनसुख जड़िये ने दण्डी जी से कहा कि दयानन्द हमारे समान गृहस्थी नहीं है, वह संन्यासी है, उसे मारना ठीक नहीं है। यह सुनकर दण्डी जी ने कहा कि अच्छा! आगे से प्रतिष्ठा के साथ पढावेंगे। पाठशाला से बाहर आने पर दयानन्द ने नैनसुख से कहा कि तुमने मेरी सिफारिश क्यों की? जैसे कुम्हार मिट्टी को पीट पीट कर सुडौल घड़ा बनाता है, ऐसे ही दण्डी जी हमारे सुधार के लिए हमें पीटते हैं, द्वेष से नहीं। यह तो उनकी कृपा है। तुमने बुरा किया जो उन्हें मारने से मना किया।

शिक्षा समाप्त होने पर प्राचीन प्रथा के अनुसार गुरुदक्षिणा का अवसर आया। दण्डी जी को लौंग बहुत प्रिय थी। अत दयानन्द उन्हें प्रसन्न करने के लिए आधा सेर लौंग लेकर दक्षिणा देने के लिए गुरुजी के सामने उपस्थित हुए। गुरु जी ने दयानन्द से कहा— "सौम्य! मैं तुझ से ऐसी क्षुद्र दक्षिणा नहीं लेना चाहता"। दयानन्द ने कहा— "गुरुजी! जिस किसी भी दक्षिणा से आप प्रसन्न हों वही मुझे नि सकोच भाव से कहिये। चाहे वह कितनी भी दुर्लभ क्यो न हो, मैं उसे यथाशक्ति अवश्य देने का प्रयत्न करूंगा"। गुरु जी ने उत्तर दिया— "दयानन्द! मैं तुझ से धन नहीं चाहता। मैं तो तेरे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ। तू देखता ही है कि देश मे भारी अंधकार, पाखण्ड, कुरीतिया फैले हुए हैं। आर्ष ग्रन्थो का पठन पाठन लुप्त होगया है और उनका स्थान अनार्ष ग्रन्थो ने ले लिया है और वैदिक धर्म का ह्रास होता जा रहा है। इसलिए यदि तू वस्तुत कोई दक्षिणा देना चाहता है तो यह प्रतिज्ञा कर कि देश मे अनार्ष ग्रन्थों का खण्डन करके

आर्ष ग्रन्थों की महिमा को स्थापित करेगा, आर्य जाति में फैले हुए अंधकार, पाखण्ड और कुरीतियों का निराकरण करेगा और वैदिक धर्म की स्थापना में अपने संपूर्ण जीवन को अर्पण कर देगा"।

दयानन्द ने गुरुजी की जीवन-दक्षिणा की मांग के सामने 'तथाऽस्तु' कहकर सिर झुका दिया और जीवन पर्यन्त कुरीतियों के निराकरण, आर्ष ग्रन्थों के प्रचार और वैदिक धर्म की स्थापना में अपनी संपूर्ण शक्ति लगाते रहे और इसही कार्य में अपने जीवन की आहुति प्रदान करदी।

सच्चे गुरु शिष्य के मन को धनादि पदार्थों की कामनाओं और भौतिक सुखभोग से ऊपर उठाकर उसके भीतर देश, समाज और भगवान् की सेवा की भावना जागृत करते हैं और सच्चे शिष्य वे होते हैं जो बाहरी या अन्तर्यामी गुरु से इस उच्च आदेश को ग्रहण करके अपने सर्वस्व को उनकी सेवा में अर्पण कर देते हैं।

[११]

सच्ची ईश्वरभक्ति

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः (केन० उ०)

यदि इस जीवन में ईश्वर को जान लिया तो सत्य (कल्याण) है, नहीं जाना तो महाविनाश हुआ।

जिस जीवन में ईश्वर नहीं जाना गया वह धोखे में रहा, ठगा गया, ईश्वर के दर्शन करने पर आनन्द ही आनन्द है। (मातृ वाणी)

जो ईश्वर से जितनी दूर है वह सत्य से भी उतनी ही दूर है। जो ईश्वर के जितना समीप है वह उतना ही सत्य के समीप है।

—लेखक

सच्ची ईश्वर-भक्ति वह होती है जो केवल ईश्वर की कामना करती है उससे भिन्न कुछ भी नहीं चाहती, जो उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में कुछ भी उठाकर नहीं रख देती। उसकी प्राप्ति के मार्ग में जो भी कठिनाइयाँ आती हैं उन्हें प्रियतम का प्रसाद समझकर प्रेम से ग्रहण करती है। कोई क्षण ऐसा नहीं होता जिसमें उसका श्रवण, कीर्त्तन या स्मरण न होता रहता हो। शारीरिक, मानसिक या वाचिक कोई भी कर्म ऐसा नहीं होता जो उसकी प्राप्ति के निमित्त, उसकी सेवा रूप में, उसे निवेदित नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ और प्राणी को भगवान् का रूप देखती है। प्रत्येक घटना को प्रियतम का प्रसाद मानकर उसका स्वागत करती है। हानि-लाभ, जय-पराजय, मान-अपमान आदि को भगवान् की ओर से आया हुआ जानकर उनका समान भाव से आलिंगन करती है। सभी को भगवान् का रूप मानकर किसी से द्वेष या घृणा नहीं करती। किसी को अपना शत्रु नहीं समझती। ऐसी भक्ति करने वाला भक्त सदा भगवान् का दर्शन करता है। वह भगवान् में रहता है और भगवान् उसमें रहते हैं।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मनि एष भागवतोत्तमः॥
भागवत ११।२।४५॥

मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ गीता

मीरा

मीरा का जन्म मारवाड़ के कुड़की नामक ग्राम में संवत् १५५८-१५५६ के आस-पास हुआ था। इनके पिता का नाम रतनसिंह राठौर था। मीरा के चित्त में बचपन से ही भगवान् की भक्ति थी। एक

दिन उनके घर पर एक महात्मा आये। महात्मा जी के पास भगवान की एक सुन्दर मूर्ति थी। मीरा ने महात्मा जी से प्रार्थना करके उस मूर्ति को ले लिया। महात्मा जी ने मूर्ति देकर मीरा से कहा कि "ये भगवान् हैं, इनका नाम श्री गिरधरलाल जी है, तू प्रेम के साथ प्रतिदिन इनकी पूजा किया कर"। सरल-हृदया बालिका मीरा सच्चे हृदय से भगवान् की सेवा-पूजा करने लगी। मीरा इस समय दस वर्ष की थी किन्तु वह दिन भर उसही मूर्ति को स्नान कराने, चन्दन पुष्प चढाने, भोग लगाने, आरती करने आदि में लगी रहती थी।

सन् १५७३ मे मीरा का विवाह चित्तौड के सिसौदिया वंश के महाराणा सागा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ हुआ। इस समय एक विचित्र घटना घटी। मीरा ने श्री गिरधरलाल जी को भी मंडप में विराजित कर दिया और भोजराज के साथ फेरे लेते समय श्री गिरधर जी के साथ भी फेरे ले लिये। मीरा ने समझा कि आज भगवान् के साथ मेरा विवाह हुआ है।

मीरा की माता ने मीरा से पूछा— "बेटी! तूने यह क्या खेल किया है"? मीरा ने कहा

> माई म्हाने सुपन बरी गोपाल।
> राती पीली चुनडी ओढी, मेहदी हाथ रसाल॥
> कोई और को बरूँ भाँवरी, म्हांके जग जजाल।
> मीरा के प्रभु गिरधर नागर करो सगाई हाल॥

जब मीरा की सखियों ने दिल्लगी की तो मीरा ने उत्तर दिया :

> ऐसे वर को के बरूँ, जो जनमें और मर जाय।
> वर बरिये गोपाल जी, म्हारो चुडलो अमर हो जाय॥

मीरा भोजराज के साथ चली गई। मीरा की भक्ति को देखकर भोजराज पहले तो कुछ अप्रसन्न हुए किन्तु अन्त में मीरा के सच्चे हृदय की सच्ची भक्ति से उन्हें प्रसन्नता हुई। उन्होंने मीरा के लिये अलग एक रणछोड़ जी का मन्दिर बनवा दिया। कुमार भोजराज एक साहित्य-प्रेमी व्यक्ति थे। मीरा बचपन से ही कवयित्री थी। उसकी भक्ति-सुधा-रस-पूर्ण पद-रचना को देखकर भोजराज का हृदय हर्ष से गद्‌गद हो जाता था।

मीरा अपना सच्चा पति केवल श्री गिरधरलाल जी को ही मानती थी। वह अपना अधिकतर समय भजन कीर्तन में बिताती थी। भोज इससे अप्रसन्न नहीं हुए। परन्तु उन्होंने मीरा से दूसरा विवाह करने की अनुमति माँगी। मीरा ने प्रसन्नता से उसे स्वीकार कर लिया और अब वह अपना सम्पूर्ण समय भजन, कीर्तन और सत्संग में बिताने लगी। कभी विरह से व्याकुल होकर रोने लगती, कभी ध्यान में देखकर हंसतीं, कभी प्रेम मे भरकर नाचने लगती। कभी लगातार कई दिनों तक बिना खाये पिये प्रेम समाधि में पड़ी रहती। कोई बातें करता तो श्रीकृष्ण प्रेम की ही बातें करती थी। शरीर दुर्बल हो गया। घर वालों ने वैद्य बुलाए। मीरा ने कहा :

हे री मैं तो राम दिवानी, मेरो दरद न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोणा होय।
गगन मडल पै सेज पिया की, किस विध मिलणा होय॥
घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होय।
जौहर की गति जौहर जाणै, की जिण जौहर होय॥
दरद की मारी बन बन डोलूं, बैद मिल्या नहिं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटै जब, बैद सांवलिया होय॥

इस प्रकार भक्ति रस के प्रभाव में विवाह के बाद दस वर्ष बीत गये। संवत् १५८० के आस-पास कुमार भोजराज का देहान्त हो गया। राजगद्दी पर भोजराज के छोटे भाई विक्रमाजीत बैठे। मीरा की भक्ति का प्रवाह तीव्र वेग से बढ़ने लगा। राणा विक्रमाजीत को मीरा का रहन-सहन, साधुओं का महलों में आना जाना और दिन रात कीर्तन होना अखरने लगा। उन्होंने मीरा को समझाने की बहुत चेष्टा की परन्तु मीरा अपने मार्ग से लेशमात्र भी विचलित न हुई। जो सखियाँ मीरा को समझाने आई थीं उन्हें मीरा ने अपना अटल निश्चय इन शब्दों में सुनाया :

> बरजो मैं काहू की न रहूं।
> सुणो री सखी ! तुम चेतन होके, मन की बात कहूँ ॥
> साधु सगत कर हरि सुख लेऊँ, जग सू मैं दूर रहूँ।
> तन धन मेरो सब ही जाओ, भल मेरो सीस लहूँ ॥
> मन मेरो लाग्यो सुमरण सेती, सबका मैं बोल सहूँ।
> मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सत् गुरु सरण गहूँ ॥

सखियों ने कहा कि मीरा जी ! आप भगवान् से प्रेम करती हैं तो करें इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु कुल की मर्यादा को छोड़कर दिनरात साधुओं की मंडली में रहने और गाने-नाचने से कुल की प्रतिष्ठा में बट्टा लगता है इससे महाराणा [illegible]त अप्रसन्न हैं। मीरा ने उत्तर दिया :

> सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हारो कांई करलेसी।
> म्हे तो गुण गोविंदरा गास्यां हो माय ॥
> राणा जी रूठ्या तो वांरो देस रखासी।
> हरि जी रूठ्यां किठे जास्यां हो माय ॥

राम नाम की झ्याज चलास्यां ।
भव सागर तिर जास्यां हो माय ॥
मीरा सरण सांवल गिरधर की।
चरण कमल लिपटास्यां हो माय ॥

कितना दृढ़ निश्चय है, कितना सच्चा भगवान् पर विश्वास है, कितनी निर्भयता है। न देश निकाला का भय है। न लोक लाज का भय। जो सखियां मीरा को इस प्रेम-पथ से अलग करने गई थीं वे भी इसमें बह गईं।

राणा ने मीरा को मारने के लिये चरणामृत कहकर विष का एक प्याला भेजा। राजा की आज्ञा थी। मीरा पीने के लिये विवश थी। परन्तु वह उसे सच्चे रूप में भगवान् का चरणोदक मानकर उसही भक्ति भाव से पी गई जिस प्रकार कि सदा चरणामृत को पीया करती थी। मीरा की सच्ची भक्ति के प्रताप से वह सचमुच चरणामृत ही बन गया। मीरा ने प्रेम में मग्न होकर गाया :

राणा जी जहर दियो मैं जाणी।
जिण हरि मेरो नाम निवेरयो, छरयो दूध अरु पाणी ॥
जब लग कंचन कसियत नाहीं, होत न बाहर बानी।
अपने कुल को पड़दो करियो, मैं अबला बौरानी ॥
स्वपच भक्त बारों तन मन ते, हों हरि हाथ बिकानी।
मीरा प्रभु गिरधर भजिबे को, संत चरण लिपटानी ॥

राणा को जब यह पता चला कि मीरा विष के प्याले को चरणामृत मानकर पी गई और उसका कुछ भी न बिगड़ा तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ।

मीरा और भी अधिक दीवानी होकर भजन कीर्त्तन में मग्न रहने

लगी। भूख नींद का पता नहीं रहा। शरीर की सुध बिसर गई। कभी विरह में व्याकुल होकर रोती, कभी प्रेम में मस्त होकर गाती नाचती, कभी इस प्रकार बातें करने लगती मानो भगवान् सामने खड़े हों। राणा को उसके चरित्र में सन्देह हुआ। उन्होंने क्रुद्ध होकर एक सांप को पिटारी में बन्द करके शालग्राम की मूर्ति कहकर उसके पास भेजा। शालग्राम की मूर्ति का नाम सुनकर मीरा ने बहुत प्रेम से उस पिटारी को खोला। मीरा ने देखा कि उसके भीतर से शालग्राम की सुन्दर मूर्ति और एक पुष्पों की माला निकली। मीरा अपने प्रियतम का दर्शन करके प्रेम में दीवानी होकर नाचने लगी:

> मीरा मगन भई हरि के गुण गाय।
> सांप पिटारा राणा भेज्या, मीरा हाथ दिया जाय।
> न्हाय धोय जब देखण लागी, सालगराम गई पाय॥
> मीरा के प्रभु सदा सहाई, राखे विघ्न हटाय।
> भजन भाव में मस्त डोलती, गिरधर पै बलि जाय॥

इसके अनन्तर राणा और भी अनेक प्रकारों से मीरा को कष्ट देने लगे। मीरा के हृदय में वृन्दावन बिहारी की वृन्दावन लीला देखने की इच्छा हुई। अतः मीरा घर छोड़कर वृन्दावन चली गई। उसके भजनों से ज्ञात होता है कि वहां उसे अनेक बार सशरीर श्रीकृष्ण के दर्शन हुए:

> हारि गयो मन मोहन पासी।
> आये मोरे सजना फिरि गये अंगना मैं अभागन रही सोई री॥
> निसि वासर मोहि विरह सतावे कल न परत पल मोई री।
> मीरा के प्रभु हरि अविनासी मिलि बिछरो मति कोई री॥

तथा :

आजु मैं देख्यो गिरधारी ।
सुन्दर बदन मदन की सोभा, चितवन अनियारी ॥
बजावत बंसी कुंजन में ।
गावत ताल तरंग रंग धुनि, नचत ग्वालगन में ॥
माधुरी मूरति वह प्यारी ।
बसी रहै निसदिन हिरदे बिच, टरै नहीं टारी ॥
वाहि पर तन मन हूँ वारी ।
वह मूरति मोहिनी निहारत, लोक लाज डारी ॥
तुलसि बन कुंजन संचारी ।
गिरधर लाल नवल नट नागर मीरा बलिहारी ॥

तथा :

जब से मोहि नन्द-नन्दन दृष्टि परयो माई ।
तब तें परलोक लोक कछु न सोहाई ॥
मोर मुकुट चन्द्रिका सुशीश मध्य सोहै ।
केसर को तिलक भाल तीनि लोक मोहै ॥
सांवरो त्रिभंग अंग चितवनि में टोना ।
खंजन और मधुप मीन भूले मृग छोना ॥
अधर बिम्ब, अरुण नयन, मधुर मद हासी ।
दशन दमक दाडिम द्युति दमके चपलासी ॥
छुद्र घटिका अनूप नूपुर ध्वनि सोहै ।
गिरधर के चरण कमल मीरा मन मोहै ॥
श्यामा सहित श्याम को निहारि इन आंखिनते ।
मीरा भई बावरी सुबावरी सुबावरी ॥

इस प्रकार भक्ति भाव में लीन रहती और प्रेम में मतवाली

होकर नाचती गाती मीरा द्वारकाधीश से मिलन के लिये द्वारका-पुरी में चली गई। मीरा ने अत्यन्त भक्ति भाव से ऐसे मिलन की प्रार्थना की जो फिर वियोग न हो :

> सजन ! सुध ज्यूं जाणो त्यूं लीजे ।
> तुम बिन मोरे और न कोई, कृपा रावरी कीजे ॥
> दिन नहीं भूख, रैण नहीं निद्रा, यों तन पल पल छीजे ।
> मीरा के प्रभु गिरधर नागर, मिलि बिछुरन नहिं दीजे ॥

इस प्रकार प्रार्थना करती, गाती और नाचती हुई मीरा अपने प्रियतम में विलीन हो गई :

> नृत्यत नूपुर बाँधि के, गावत करतार।
> देखत ही हरि में मिली, तृन सम गनि संसार॥
> मीरा को निज लीन किय, नागर नंदकिसोर।
> जग प्रतीत हित-नाथ-मुख रह्यो चूनरी छोर॥

पांचवी प्रभा

दिव्य जीवन का साधन

श्री अरविन्द और माता जी के विचार

प्रभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया अदर्शि वि स्रुतिर्दिव ॥
ऋग्वेद १।४६।११॥

सत्य का मार्ग चलते में श्रेष्ठ है, इसे मर्त्यलोक से परे जाने के लिये बनाया गया है, इसे द्युलोक मे जाता हुआ देखा गया है।

सत्येन पन्था विततो देवयान ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परम निधानम् ॥ मु० ३।१।६॥

सत्य से देवो की यात्रा का मार्ग विस्तृत हुआ, जिसके द्वारा ऋषि अपनी कामनाओं को जीतकर वहाँ आरोहण करते हैं जो सत्य का परम आश्रय है।

यत्र ज्योतिरजस्र यस्मिल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते ॥
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ता कामास्तत्र माममृत कृधि ॥
ऋ ९।११३।७, ११॥

हे पवित्र करने वाले देव ! मुझे उस लोक मे, दिव्यभाव मे स्थित कर जहाँ सदा प्रकाश ही प्रकाश रहता है, जहा अंधकार मे प्रकाश की ओर गति नहीं होती अपितु एक प्रकाश से पूर्णतर

प्रकाश की ओर गति होती है, जहां दुःख से सुख की ओर गति नहीं है अपितु एक आनन्द से पूर्णतर आनन्द की ओर गति होती है, जहां मृत्यु से अमरता की ओर गति नहीं है अपितु सदा अमरता ही अमरता है, जहां उच्चतम लक्ष्य सदा प्राप्त रहता है* ।

सत्य न केवल भगवान् की प्राप्ति का साधन है अपितु श्रीअरविन्द के योग का लक्ष्य जो दिव्य जीवन अथवा प्रकृति का दिव्य रूपान्तर है उसके लिये इसकी अत्यन्त अनिवार्य रूप में आवश्यकता है । अपनी प्रकृति में कुछ आवश्यक सुधार करके मनुष्य भगवान् का और अपने आत्मा का दर्शन कर सकता है और इस प्रकार अपने आत्मा के दिव्य भाव को प्राप्त कर सकता है, किन्तु इससे प्रकृति का दिव्य रूपान्तर नहीं होता और मनुष्य पृथ्वी पर आने के अपने परम लक्ष्य के केवल एक अंश को ही प्राप्त कर पाता है । प्रकृति के दिव्य रूपान्तर के लिये अतिमानस शक्ति की क्रिया की आवश्यकता है और इस क्रिया के लिये आवश्यकता है यथा-संभव पूरी सचाई के साथ जीवन के प्रत्येक व्यवहार में सत्य को अपनाने की ।

पृथ्वी पर तीन श्रेणियों के मनुष्य देखे जाते हैं — प्रथम निम्न कोटि के मनुष्य, वे मनुष्य जिनकी प्रकृति निम्न कोटि के तम और रजोगुण वाली होती है । ऐसे मनुष्य अपनी निम्नतम अवस्था में असुर या राक्षस भी कहे जा सकते हैं । दूसरे वे मनुष्य

*साधारण मानव जीवन में असत्य से सत्य की ओर, तम से ज्योति की ओर, दुःख से सुख की ओर, मृत्यु से अमृतत्व की ओर गति होती है । अतिमानस जीवन में सत् से सत्, ज्योति से पूर्णतर ज्योति, आनन्द से पूर्णतर आनन्द की ओर प्रगति होती है ।

जिनमें साधारणतया सत्त्व गुण की प्रधानता होती है। इन मनुष्यों को अच्छा, भला कहा जा सकता है। तीसरे वे मनुष्य जिनमें सत्त्व गुण बहुत उच्चकोटि का होता है और उनकी प्रकृति सत्त्वगुण से कुछ आगे बढ़ी होती है। इन्हें त्रिगुणातीत भी कहा जा सकता है। इनका जीवन साधारण मनुष्यों से प्राय विलक्षण प्रकार का होता है। कभी कभी इनका जीवन-व्यवहार साधारण मनुष्यों के जीवन-व्यवहार से उल्टा प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में ऐसे ही मनुष्य मानव जाति के पथ-प्रदर्शक होते हैं। साधारण मनुष्यों से यदि उनके जैसे कर्मों के करने के लिये कहा जाय तो कुछ कहेंगे कि यह मनुष्य का कार्य नहीं है, यह पागलों का कार्य है, कुछ कहेंगे कि यह देवताओं का कार्य है।

एक व्यक्ति चिन्तित दुःखित किसी सहायता की आशा में खड़ा है। निम्न कोटि का मनुष्य उससे बातें तक नहीं करेगा, यदि वह सहायता की प्रार्थना करेगा तो उसे फटकार देगा, यह भी सम्भव है कि यदि उस दुःखिया के पास पैसे, रुपये या वस्त्र हों और वह अकेला हो तो वह मनुष्य उन्हें छीनकर ले जाय*।

दूसरा व्यक्ति, अच्छा भला मनुष्य उसे कष्ट में देखकर उसकी सहायता करेगा, विश्राम की आवश्यकता होगी तो उसे रात्रि में विश्राम देगा, भूख लगी होगी तो भोजन देगा इत्यादि। परन्तु यदि

---

* देहली में अनेक बार आग लगने पर ऐसा देखा गया है कि एक ओर तो आग बुझाने वाले व्यक्ति आग बुझाने के प्रयास में मकानों के भीतर का सामान बाहर फेंक रहे हैं और दूसरी ओर कुछ व्यक्ति इस कार्य में सहायता देने के बजाय उसे सिर पर उठाकर अपने अपने घरों को लेजा रहे हैं।

वह व्यक्ति आश्रय पाकर, आश्रयदाता की चोरी करले तो वह उसे पकड़वाने का प्रयत्न करेगा, उस पर अभियोग चलाकर उसे दण्ड दिलाने का प्रयास करेगा। वह इस प्रकार चोर को दण्ड दिलाने में कोई अनुचित कार्य नहीं करता। परन्तु एक तीसरी श्रेणी का मनुष्य भी है। वह दुःख में देखकर आश्रय, अन्न, वस्त्र आदि देता है और उसके चोरी कर लेने पर उसकी स्थिति पर सहानुभूति के साथ गहराई में विचार करके उसे जेल में नहीं भिजवाता अपितु उसे सुधारने के लिए उसके साथ मित्र के समान व्यवहार करता हुआ उसे और अधिक पदार्थ देता है, जैसा कि विशॉप ने जीन-वल्जीन के साथ किया।

निम्न कोटि का मनुष्य झूठ बोलकर, धोखा देकर, चोरी, ठगी, डकैती, हत्या करके धन एकत्रित करता है और खूब भोग-विलास-मय जीवन व्यतीत करता है। दूसरा व्यक्ति न्याय्य मार्ग से, स्थूल रूप में किसी को बिना कष्ट दिये धन कमाता है। इस प्रकार जो धन उसके पास आता है उसे संभाल कर रखता है। अपनी आय का ठीक ठीक हिसाब रखता है। अच्छा मकान बनवाता है, अच्छा वस्त्र पहनता है, अच्छा भोजन करता है। यदि इस सब में बचा तो थोड़ा बहुत दान भी कर देता है। चिकित्सालय, विद्यालय आदि बनवा देता है। समाज की प्रशंसा का पात्र होता है। वह अच्छा, भला मनुष्य है। सात्विक प्रकृति का है। परन्तु एक व्यक्ति ऐसा भी होता है जिसकी धन, मान आदि पर लेशमात्र भी दृष्टि नहीं होती। तीन माह का वेतन एक साथ मिलता है और वह उसे ताले में बन्द रखने के बजाय मेज पर रखे खुले पात्र (Tray) में डाल देता है। उसका एक मित्र

पूछता है कि आप इस प्रकार अपने रुपयों को खुला क्यों छोड़ देते हैं? वह हँसकर उत्तर देता है— "इसलिए कि हम ईमानदार और अच्छे मनुष्यों के बीच में रह रहे हैं"। मित्र पूछता है– "किन्तु आप कोई हिसाब तो रखते नहीं जिससे कि यह पता चल जाय कि आपके पास रहने वाले व्यक्ति ईमानदार हैं"। वह उत्तर देता है— "मेरे लिए ईश्वर हिसाब रखता है। जितना मुझे आवश्यक है वह दे देता है शेष को अपने पास रख लेता है। वह कभी भी मुझे कमी में नहीं रखता, तब मैं क्यों चिन्ता करूं'*"। कुछ समय पीछे वह देश और भगवान् की सेवा में इस वेतन को भी त्याग देता है। इसही प्रकार के मनुष्य देव प्रकृति के कहे जा सकते हैं।

निम्न प्रकार का व्यापारी अनेक प्रकार के छल, कपट से दूसरे व्यापारी के धन का अपहरण करता है। भला व्यापारी किसी को सामान बेचकर या उसे मोल लेकर अपना न्यायसंगत लाभ लेता है। यदि वह देने में हिचकिचाता है तो अभियोग चलाकर उसके घर, दूकान आदि को नीलाम कराकर वसूल करता है। ऐसा करने में वह लेशमात्र भी कानून के विरुद्ध आचरण नहीं करता; वह ईमानदारी से जितना उसका दूसरे पर चाहिये उतना ही लेता है। परन्तु रायचन्द जैसा व्यापारी सौदा करने पर दूसरे व्यापारी की परिस्थिति को देखकर एक पाई भी वसूल नहीं करता।

निम्न कोटि का वकील झूठा सच्चा जैसा भी अभियोग उसके पास आता है उसे स्वीकार कर लेता है, सैंकड़ों झूठ बोलकर और

* Life of Sri Aurobindo : A. B. Purani P. 74.

बुलवाकर उसे जितवाने का प्रयत्न करता है। वह लेशमात्र भी यह नहीं सोचता कि उसके इस कार्य से एक निरपराध व्यक्ति की धन-हानि, प्राण-हानि होगी। उसे तो केवल अपने स्वार्थ के लिये धन बटोरने की, बंगले बनवाने की, सैर सपाटे के लिये कार खरीदने की और सभा सोसाइटियों में उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने, राजसभा, लोकसभा, संसद्, विधान परिषद् आदि का सदस्य होने की चिन्ता है। अच्छा वकील, बहुत अच्छा वकील यथासंभव सच्चे अभियोग को लेता है। जो उसे अधिक पारिश्रमिक देता है उसका अभियोग लेता है, कम देने वालों का नहीं लेता। यदि किसी के पास फीस देने के लिये पैसे नहीं हैं तो उसे इतने बड़े वकील के पास नहीं जाना चाहिये। परन्तु एक वकील ऐसा भी होता है जिसे अपने लाभ की अपेक्षा सत्य, न्याय और दूसरों के हित की अधिक चिन्ता रहती है। अभियोग आने पर अभियोगार्थियों में समझौता कराने का प्रयत्न करता है। समझौता न होने पर सच्चे पक्ष को लेता है, झूठे को छोड़ देता है। यदि उसके पास फीस देने के लिए पैसे नहीं हैं तब भी बिना पैसे लिए और यथासंभव अपनी ओर से देकर अभियोग की पैरवी करता है। चित्तरंजनदास, महात्मा गांधी, अब्राहम लिंकन जैसे वकील इसही श्रेणी के हैं।

निम्न कोटि का डाक्टर खूब बढ़ा चढ़ा कर रोग का वर्णन करता है। रोगी को ऐसी औषधि देता है कि जिसमें रोग बढ़ जाय और रोगी को और उसके परिचारकों को यह प्रमाणित होजाय कि वस्तुतः रोग बहुत भयानक है। रोगी को देखने की पूरी फीस लेता है। बढ़ा चढ़ाकर औषधि के दाम लेता है। अनेक डाक्टर ऐसे भी

होते हैं कि जो रोगी के संबन्धियों से धन प्राप्ति के प्रलोभन में रोगी को मन्दविष देते हैं और उसका प्राणान्त कर देते हैं।

दूसरी श्रेणी का डाक्टर, अच्छा भला डाक्टर वह होता है कि जो जैसा रोग उसकी समझ में आता है वैसा ही सचाई के साथ बतलाता है। उसके ठीक करने के लिए अपनी बुद्धि के अनुसार ठीक औषधि देता है। अपनी फीस और औषधि के दाम भी ठीक ठीक लेता है। उसे यह सोचने की आवश्यकता नहीं कि रोगी के पास देने के लिए पैसे हैं या नहीं। यदि किसी के पास देने के लिए पर्याप्त पैसे नहीं हैं तो उसे इतने बड़े डाक्टर के पास जाकर व्यर्थ ही उसका समय नष्ट नहीं करना चाहिये।

परन्तु एक वैद्य ऐसा भी देखा गया है जो रोगी को देखने की कोई फीस नहीं लेता, न औषधि के दाम ही लेता है। प्रत्येक रोगी को देने या न देने की स्वतंत्रता रहती है। लेखक ने एक ऐसे सेवानिवृत्त सिविल सर्जन को देखा है जो बिना फीस लिए रोगियों की चिकित्सा करता है। यदि कोई रोगी उसके पीछे आकर अपने घर का पता बतला जाता है तो वह उसके घर पर जाकर रोगी को देखता है और औषधि का निर्णय करता है। जो बाजार से औषधि न ले सके उनके लिए अपने पास से या अपने मित्रों से पैसों की व्यवस्था कराता है। यदि रोगी के पास भोजन का प्रबन्ध नहीं है तो भोजन की व्यवस्था कराता है। इसही श्रेणी के मनुष्य दिव्य प्रकृति के कहे जा सकते हैं।

निम्न कोटि का अध्यापक स्कूल या कालिज से वेतन लेकर पढ़ाता है। अधिक धन संग्रह करने के लिये अपना अधिकांश

समय प्राईवेट ट्यूशनों में लगाता है। क्लास में जाकर ऊँघता रहता है। महीना पूरा होने पर अपना वेतन ले लेता है। उसे विद्यार्थियों के हानि या लाभ या आचरण की लेशमात्र भी चिंता नहीं है। उसे केवल अपने धन की चिंता है। भला अध्यापक परिश्रम से पढ़ाता है। विद्यार्थियों को परीक्षा में उत्तीर्ण कराने का पूरा प्रयास करता है। समय आने पर अपना वेतन ले लेता है। यदि वेतन समय पर नहीं मिलता या कम मिलता है तो जहा समय पर और अधिक मिले वहा कार्य करने लगता है। परन्तु एक अध्यापक ऐसा भी होता है जो बिना पैसा लिए स्वयं विद्यार्थियों के घरों पर जाकर उन्हें पढाता है, वेतन लेना तो अलग रहा, जिन्हें पढाता है उनसे अर्थ-दण्ड, मृत्यु-दण्ड मिलने पर भी उन्हें उच्च चरित्र, ज्ञानवान्, श्रेष्ठ मनुष्य बनाने के लिए शिक्षा देना छोड़ने को तैय्यार नहीं है। सुकरात, ईसा, दयानन्द जैसे व्यक्ति इसही श्रेणी के शिक्षक हैं।

निम्न श्रेणी का सिपाही जन साधारण को कष्ट देकर घूस लेता है। भला सिपाही दूसरों को अन्यायपूर्वक कष्ट नहीं देता, अपने अफसर की आज्ञा का पालन करता है। यदि उसका अफसर उसे किसी को बंदी बनाने या किसी पर गोली चलाने की आज्ञा देता है तो आज्ञा का पालन करके अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। परन्तु एक सिपाही कुछ विलक्षण स्वभाव का होता है। यदि उसका हाकिम उसे किसी को बन्दी बनाने या किसी पर गोली चलाने का आदेश देता है तो सोचता है कि उसका आदेश उचित है या अनुचित। यदि अनुचित है तो आज्ञा का उल्लंघन कर देता है और स्वयं बन्दी होने और गोली खाने को तैयार हो जाता है।

सुकरात और १९३१ के आन्दोलन के समय सीमा प्रांत में नियुक्त गोरखा सिपाही इसही श्रेणी के व्यक्ति हैं।

एक राजा का औरंगजेब जैसा छोटा पुत्र राज्य के लोभ मे अपने पिता को बंदी बनाता है, भाइयों की निर्मम हत्या कराता है। यह निम्न कोटि का मनुष्य है, असुर भी कहें तो अनुचित नहीं। एक भला छोटा पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करता है। यदि वह उसे स्नेह से राज्य देता है तो स्वीकार कर लेता है। बडा भाई पिता के अनुचित कार्य का विरोध करता हुआ अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए सेना एकत्रित करके युद्ध करता है। साधारणतया ये दोनों ही ठीक मार्ग पर कहे जा सकते हैं। परन्तु एक बडा पुत्र ऐसा भी होता है जो पिता का संकेत मिलते ही प्रसन्नता से छोटे भाई के लिए राज्य छोड देता है और उसके देने पर भी फिर नहीं लेता। एक छोटा भाई ऐसा होता है जो पिता के देने पर भी उसे ग्रहण नहीं करता, अपने बडे भाई को लौटा देता है। भरत और राम जैसे इस ही प्रकार के, देव प्रकृति के, देवता या अतिमानव श्रेणी के मनुष्य कहे जा सकते हैं।

परन्तु देव प्रकृति का यह रूप साधारण सात्त्विक प्रकृति से कुछ विलक्षणता दिखलाने मात्र के लिए दिखलाया गया है। पूर्णतया दिव्य प्रकृति का क्या रूप होगा यह तो श्री अरविन्द के कथनानुसार ऋतचित्, सत्यं ऋतं बृहत् की क्रिया से भविष्य में प्रकट होगा। परन्तु सत्य का निष्कपट भाव से व्यावहारिक जीवन मे पालन करने पर ही यह अतिमानस क्रिया और प्रकृति का दिव्य रूपांतर संभव हो सकता है, इसके बिना नहीं। अत श्री अरविन्द लिखते हैं -

[१]

सत्य की अनिवार्य आवश्यकता

"हमारे प्रयास का लक्ष्य जो महान् और दुःसाध्य पदार्थ है वह तभी प्राप्त हो सकता है जब कि मनुष्य के हृदय में दृढ़ और अभंग अभीप्सा हो जो कि नीचे से पुकार करती है और ऊपर से भगवान् की, भगवती माता की प्रसाद-रूपा शक्ति हो जो प्रत्युत्तर देती है।

"परन्तु भागवत प्रसाद-शक्ति केवल सत्य और प्रकाश की अवस्था में ही क्रिया कर सकती है। यदि असत्य जो कुछ चाहता है उसे वह स्वीकार करले तो वह अपने ही व्रत से च्युत हो जाय।

"यदि एक ओर से या अपने एक अंग में तुम सत्य के सम्मुख होते हो और दूसरी ओर से आसुरी शक्तियों (असत्य) के लिए अपने द्वार बराबर खोलते जा रहे हो तो यह आशा करना व्यर्थ है कि भगवत्प्रसाद-रूपा शक्ति तुम्हारा साथ देगी। तुम्हें अपना मन्दिर स्वच्छ रखना होगा यदि तुम चाहते हो कि भगवान् और उसकी प्रसाद-रूपी शक्ति सजीव रूप में उसके भीतर प्रतिष्ठित हों* "।

---

* काशी के एक उच्चकोटि के विद्वान् ने अपने विद्यार्थी जीवन की एक घटना सुनाते हुए इस प्रकार कहा— "एक ओर तो वेद, उपनिषद्, वेदान्त आदि के पाठ होते हैं। दूसरी ओर उस ही समय हलुआ, पूरी, खीर आदि के निमन्त्रण आते हैं। ऐसे समय पर जिह्वा को संयम में रखना बहुत कठिन हो जाता था। अनेक विद्यार्थी इसही माया जाल में फंसकर रोगी बन जाते हैं और फिर विद्या अध्ययन छोड़ कर चले जाते हैं"।

स्कूल और कालेज के अनेक विद्यार्थी सिगरेट, बीड़ी, सिनेमा आदि

"यदि हरबार जब यह प्रसाद-रूपा शक्ति आती है और सत्य को लाती है तब यदि तुम उसकी ओर से पीठ फेर लो और फिर उसही असत्य को बुलालो जिसका कि बहिष्कार कर दिया गया है तो यह प्रसाद शक्ति का दोष नहीं है जो तुम्हारा साथ न दे, अपितु यह तुम्हारे अपने संकल्प के असत्य का और तुम्हारे समर्पण की अपूर्णता का दोष है*" ।

"यदि तुम सत्य का आह्वान करते हो किन्तु फिर भी तुम्हारे

के दुर्व्यसनों में फंसकर वर्षों तक अनुत्तीर्ण होते रहते हैं और इनमें अपने दरिद्र माता-पिता का इतना अधिक धन व्यय कर देते हैं कि उनके लिये पढाना असम्भव हो जाता है।

इस सबका कारण यह है कि उनके मन का एक भाग तो विद्यारूप सत्य की अभीप्सा रखता है परन्तु दूसरा नहीं रखता। जब विद्याध्ययन के लिए असत्य परित्याग की इतनी अधिक आवश्यकता है तो परमात्मा की प्राप्ति और प्रकृति के दिव्य रूपान्तर के लिए तो और भी अधिक आवश्यकता है।

* मनुष्य के भीतर असत्य भाषण, परनिन्दा, क्रोध, द्वेष, खाने पहरने आदि के दुर्व्यसन, धन में आसक्ति, परिवार में आसक्ति, मित्रों के प्रति पक्षपात आदि अनेक दोष छिपे पडे रहते हैं जो अहकार और कामना-जन्य होते हैं और जिन्हें वह दोष नहीं समझता। भगवत्शक्ति अपनी कृपा से उसे यह प्रकाश देती है कि ये दोष हैं तो वह अनेक बार उस प्रकाश की ओर से पीठ फेरे रहता है और उन्हें दोष ही मानने को तैयार नहीं होता। यदि उन्हें दोष मान भी ले तो उनमें इतना अधिक रस लेता है, आसक्त होता है कि उनका बहिष्कार करने को तैयार नहीं होता। भगवत्शक्ति अनेक बार उनका बहिष्कार भी कर देती है किन्तु मनुष्य को अपने चिरअभ्यासों के कारण उनके छोडते हुए दुःख का अनुभव होता है तब फिर भगवत्प्रसाद-शक्ति कैसे क्रिया करेगी ?

भीतर कोई ऐसी वस्तु है जो कि असत्य, अहं और अदिव्य को ग्रहण करती है अथवा उसका सर्वथा परित्याग नहीं करना चाहती* तब तुम विरोधी शक्तियों के आक्रमण के लिये सदा खुले रहोगे और भगवान् की प्रसाद-रूपा शक्ति तुम से दूर हो जायगी। पहले यह खोजो कि तुम में असत्य या अंधकार क्या है और बलपूर्वक उसका निराकरण करो तभी तुम अपना रूपान्तर करने के लिए भगवत्शक्ति का आह्वान कर सकते हो ||

"यह मत समझो कि सत्य और मिथ्यात्व, प्रकाश और अंधकार, समर्पण और स्वार्थपरायणता एक साथ उस मन्दिर में रहने दिये जा सकेंगे जो कि भगवान् को अर्पण किया जा चुका है। रूपान्तर सर्वांगीण होना होगा और इसलिए जो भी उसके मार्ग में बाधक है उसका परित्याग भी पूरा, सर्वांगीण ही करना होगा"।
(माता)

[८]
अज्ञान और असत्य

जिस बात के विषय में मनुष्य यह विश्वास करता या जानता है कि वह झूठ है उसे सत्य बतलाना और जिसे वह सत्य मानता है किन्तु वस्तुतः सत्य नहीं है उसे सत्य बतलाना— इन दोनों में बहुत भेद है। पहले में मनुष्य स्पष्टतया सत्य की भावना के विरुद्ध कार्य करता है, दूसरे में सत्य का सम्मान करता है। पहला जान-

* स्थूल रूप में अपने हृदय में सत्य का आह्वान करने पर भी कुछ ऐसे ऐसे कोने रह सकते हैं जो पुराने दोषों का परित्याग नहीं करना चाहते। अतः बहुत गहराई तक मनन के निरीक्षण और सत्य के पुकारने की आवश्यकता है।

बूझ कर झूठ बोलना है, दूसरा केवल भूल अथवा अधिक से अधिक यह तो अज्ञान है। (श्री अरविन्द का पत्र २२।१२।१९३३)

जब तुम अज्ञानवश कोई भूल करते हो और वह भी यह जाने बिना कि यह भूल है, तो यह स्पष्ट है कि जैसे ही तुम्हें भूल का पता लगता है और तुम्हारा अज्ञान दूर हो जाता है तो तुम भूल नहीं करते। परन्तु ऐसा तभी होता है जबकि तुम्हारे भीतर सदिच्छा हो और तुम उस सदिच्छा के कारण उस अवस्था से बाहर निकल आओ जिसमें तुम उस भूल को कर सकते थे। किन्तु यदि तुम यह जानते हुए भी कि यह भूल है उसे करते हो तो इसका यह अर्थ है कि तुम्हारे भीतर कोई ऐसी विकृत वस्तु विद्यमान है जिसने अव्यवस्था या दुष्ट विचार के पक्ष मे, यहां तक कि भागवत-विरोधी शक्तियों के पक्ष में रहना स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया है।

यह भी स्पष्ट है कि यदि कोई भागवत-विरोधी शक्तियों का पक्ष लेना स्वीकार करता है या वह इतना दुर्बल और अस्थिरचित्त होता है कि वह उनके साथ रहने के आकर्षण का प्रतिरोध नहीं कर सकता तो बात मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिक गभीर हो जाती है। इसका अर्थ यह होता है कि कहीं कोई कालुष्य उत्पन्न हो गया है, विरोधी शक्ति तुम्हारे भीतर स्थापित हो चुकी है या फिर तुम्हारे भीतर इन शक्तियों के लिये जन्मजात सहानुभूति विद्यमान है। अज्ञान की अवस्था के सुधार करने की अपेक्षा इस का सुधार करना कहीं अधिक कठिन है।

अज्ञान को दूर करने का अर्थ है अंधकार को हटाना। तुम

दीपक जला देते हो, अंधकार मिट जाता है। किन्तु एक ऐसी भूल को जिसे तुम सचमुच भूल समझते हो दुहराने का अर्थ यह है कि तुम दीपक जलाकर फिर जानबूझ कर उसे बुझा देते हो। इस का अर्थ पूर्णतया यह हुआ कि तुम अंधकार को जानबूझ कर बुलाते हो, क्योंकि दुर्बलता का तर्क यहां लागू नहीं होता।

जिन मनुष्यों ने अपने आपको सुधारने का निश्चय कर लिया है उनकी सहायता के लिए भगवत्कृपा सदा उपस्थित रहती है, वे यह नहीं कह सकते "मैं अपनी दुर्बलता के कारण अपने आपको सुधार नहीं सकता" बल्कि उन्हें यह कहना चाहिये "हमने अभी तक अपने सुधार का निश्चय ही नहीं किया है"। उनकी सत्ता में किसी स्थान पर कोई ऐसी वस्तु है जिसने ऐसा करने का निश्चय नहीं किया है। यही बात वस्तुत गंभीर है।

यह दुर्बलता नहीं अपितु हृदय का असत्य (मिथ्यात्व) है और असत्य (मिथ्यात्व) का अर्थ तो सदा ही विरोधी के प्रति द्वार का खुला रखना है। इसका यह भी अर्थ है कि जो वस्तु निकृष्ट है उसके प्रति मनुष्य में कहीं एक गुप्त सहानुभूति की भावना है। यही बात गंभीर है।

जब अज्ञान को ज्ञान से प्रकाशित करना होता है तो, जैसा कि मैं अभी कह चुकी हूँ, दीपक को जलाना पर्याप्त है। किन्तु जब कोई जानबूझ कर फिर फिर भूल करता है तो उसके लिए दहन क्रिया* की आवश्यकता पडती है।

---

*Thermo–Cantery अर्थात्, जैसे बाहर से उष्णता देकर मास के विकार को दूर किया जाता है इसही प्रकार बाहर से

[३]

मानसिक निष्कपटता (Mental Honesty)

मानसिक निष्कपटता का अर्थ है ऐसा मन जो अपने आपको धोखा देने का यत्न नहीं करता।

ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य की सामान्य मनोवैज्ञानिक रचना में मन की सदा होती रहने वाली क्रिया एक ऐसी व्याख्या को प्रस्तुत किया करती है जो कामनामय और प्राणिक सत्ता एवं मन के अत्यधिक स्थूल भागों और शरीर के अतिसूक्ष्म भागों में घटित होने वाली वस्तु को स्वीकार्य होगी।

जब तक तुम एक विशेष अनुशासन में से नहीं होकर चलते या तुम्हें नहीं चलाया जाता तब तक तुम जो भी कार्य करते हो मन उसकी पर्याप्त अनुकूल व्याख्या कर देता है, इसमें उसका अभिप्राय अशान्ति से बचना होता है। वस्तुतः बाह्य परिस्थितियों और दूसरे मनुष्यों की प्रतिक्रियाओं और कार्यों के दबाव से ही व्यक्ति धीरे-धीरे अपनी ओर कम दया दिखाकर, उस सब की ओर जो कुछ वह है और जो कुछ वह करता है, देखना और अपने आप से यह पूछना प्रारंभ करता है कि क्या वस्तु-स्थिति इससे अच्छी नहीं हो सकती। स्वभावतया ही व्यक्ति की पहली क्रिया अपना बचाव करने की और अपने कार्य का समर्थन करने की होती है। तुम एक दम सावधान हो जाते हो और सहज भाव से यह प्रमाणित करने लगते हो कि तुम ठीक मार्ग पर हो, छोटी-छोटी

आध्यात्मिक शक्ति के प्रयोग से इस मिथ्यात्व को हटाना, अथवा बाहर से सांसारिक कष्टों के आक्रमण के भय से व्यक्ति का स्वयं अपने आपको सुधारना।

बातों में, यहां तक कि नितान्त तुच्छ सी बातों में भी तुम्हारा ही मत ठीक है। दोष सदा दूसरों का माना जाता है या फिर परिस्थितियों का।

तुम्हें यह समझना प्रारम्भ करने के लिए सचमुच प्रयत्न करना पड़ता है कि शायद तुमने बिल्कुल वैसा नहीं किया जैसा कि तुम्हें करना चाहिये था, बल्कि जब तुम यह सब देखना प्रारम्भ कर भी देते हो तब भी यथार्थ रूप में उसे पहचानने के लिए तुम्हें और भी अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता पड़ती है।

जब तुम देखने लगते हो कि तुमने भूल की है तो मन की पहली क्रिया उसे पीछे धकेल देने की, उस पर पर्दा डाल देने की होती है, यह पर्दा बड़े सूक्ष्म ढंग से अपनी सफाई देने का होता है, और जब तक तुम उस भूल को प्रकट करने के लिए विवश नहीं हो जाते तब तक तुम छिपाये रहते हो। इसे ही मैं मानसिक निष्कपटता का अभाव कहती हूँ। सबसे पहले तो तुम अभ्यास-वश ही अपने आपको धोखा देते रहते हो, किन्तु जब तुम अपने आपको धोखा देना बंद कर देते हो तब भी सत्ता में अपने आपको धोखा देने का यत्न करने की एक सहज क्रिया बनी रहती है जो तुम्हें सुखद प्रतीत होती है। परन्तु मनुष्य को इससे आगे एक लम्बा पग बढ़ाना चाहिये। एक बार जब तुम्हें अपनी भूल का पता लग जाय तो सच्चे और खुले हृदय से यह स्वीकार कर लो कि हाँ! मैंने भूल की है।

जब तुम अपनी सत्ता को अनुशासन में लाना चाहते हो तो तुम्हें अत्यधिक मनोरंजक तथ्यों का पता चलता है। तुम जान

लेते हो कि तुम सदा ही ऐसी अवस्था में रहते हो जिसमें तुम अपने आपको जान बूझ कर धोखा देते रहते हो। तुम इतना सहज भाव से अपने आपको धोखा देते हो कि उसमें तुम्हें सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती; तुम सहज ही अपने कार्य पर एक सुन्दर पर्दा डाल देते हो जिससे कि वस्तु तुम्हें अपने सच्चे रूप में न दिखाई दे, और यह सब ऐसी बातों के लिए किया जाता है जो बहुत ही तुच्छ होती हैं, जिनका लेशमात्र भी महत्त्व नहीं है।

इस धोखे को व्यक्ति तभी समझ सकता है जबकि उसकी भूल के परिणाम उसके जीवन के लिए गंभीर हो उठते हैं— वस्तुतः आत्म-रक्षा की सहज-प्रवृत्ति ही तुम्हें इस ओर प्रेरित करती है, यह एक प्रकार की सुरक्षा की प्रवृत्ति होती है। किन्तु यहां प्रश्न यह नहीं है; यहां प्रश्न उन वस्तुओं से संबंध रखता है जो सर्वथा तटस्थ होती हैं, जिनका कोई परिणाम नहीं निकलता; यहां व्यक्ति को अपने आपसे केवल यह कहना होता है कि "मेरी भूल है"। दूसरे शब्दों में, मानसिक रूप में सच्चा होने के लिये उसे प्रयत्न करना पड़ता है, एक महान् प्रयत्न करना पड़ता है, अनुशासन में से, साधना में से होकर चलना पड़ता है। मानसिक सचाई एक ऐसी वस्तु है जो सदा और निरन्तर जारी रहने वाले प्रयत्न से प्राप्त होती है।

निष्कपटता प्राप्ति का साधन

अनेक बार तुम अचानक ही अपने आपको सफाई देते हुए पकड़ लेते हो। यह सफाई होती तो छोटी सी है पर तुम्हारे बहुत अनुकूल पड़ती है; यह या तो मस्तिष्क की या हृदय की वस्तु होती

है जो और भी गंभीर होती है। यदि तुम अपने इस बहाने को पकड़ लो और स्थिर होकर सीधा देखो और अपने आपसे कहो : "क्या तुम सचमुच सोचते हो कि बात ऐसी ही है" ? तो उस समय यदि तुम में पर्याप्त साहस हो और तुम अपने ऊपर बलयुक्त दबाव डाल सको तो अन्त में तुम अपने से कहोगे, "हां, मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि बात ऐसी नहीं है"।

कभी कभी इसमें वर्षों लग जाते हैं। इसमें समय लगता ही चाहिये, अपने भीतर पर्याप्त परिवर्तन अनुभव करना चाहिये, जिससे कि वस्तु संबंधी दृष्टिकोण भिन्न हो सके। तुम्हें यह स्पष्ट और पूर्ण रूप से देखने में समर्थ होना चाहिये कि तुमने अपने आपको कहां तक धोखा दिया है, उस समय भी जबकि तुम अपने आपको सच्चा समझ रहे थे*।

"बिना किसी कष्ट के सत्य बोलने के लिए सबसे अच्छा ढंग यह है कि हम अपना व्यवहार सदा इस प्रकार का रखें कि हमें अपना कोई भी कार्य छिपाना न पड़े। इसके लिए प्रतिक्षण हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि हम भगवान् के सम्मुख हैं। वचन की सचाई कार्य की सचाई की मांग करती है। सच्चा मनुष्य वह है जो अपने वचन और कर्म से सब पाखंड को निकाल देता है"। (सुन्दर कहानियाँ)

[४]

सच्चाई (Sincerity)

"सच्चा होना और भोला-सीधा होना एक ही वस्तु नहीं है। भोला-सीधा होने का अर्थ है ऐसा भोलापन जो कि अधिकतर वस्तुओं के अज्ञान पर प्रतिष्ठित हो। एक बच्चा भोला-सीधा होता

* शारीरिक शिक्षण पत्रिका। अगस्त १९५८।

है क्योंकि यह अज्ञ होता है और कुछ भी नहीं छिपाता; वह छिपाने में असमर्थ है और किसी को धोखा देने की इच्छा नहीं रखता। परन्तु सचाई भिन्न वस्तु है"।

"सचाई को रखना अत्यन्त कठिन है किन्तु यह सब वस्तुओं की अपेक्षा अत्यन्त प्रभावशाली भी है। यदि तुम सच्चे हो तो तुम्हारी विजय होनी निश्चित है। परन्तु वह निष्कपट सचाई होनी चाहिये* "।

सचाई का अर्थ है सत्ता की सम्पूर्ण क्रियाओं को उस उच्चतम चेतना और अनुभूति के स्तर तक जोकि अभी तक प्राप्त किया जा सका है, उठा देना। — (योग प्रदीप)

"सचाई का अर्थ यह है कि तुम्हारी सत्ता के सम्पूर्ण तत्त्व, समस्त क्रियाएं, प्रत्येक गतिविधि, अत्यन्त आध्यात्मिक से लेकर अत्यन्त बाह्य तक, उच्चतम से लेकर निम्नतम तक, समस्त अंग, कठोरतापूर्वक पूर्णतया और समान रूप से भगवान् की ओर प्रवृत्त हो जायें, वे भगवान् के सिवाय और कुछ भी न मांगें, वे भगवान् के लिए और भगवान् के द्वारा अपना अस्तित्व धारण करें।

"और यह कोई सरल वस्तु नहीं है। एक अंग में सच्चा होना, अधिकतर अंगों में सच्चा होना, कुछ विशेष अवसरों पर सच्चा होना, पर्याप्त सरल है; इतना प्रत्येक मनुष्य हो सकता है या प्राप्त कर सकता है। सामान्य सदिच्छा रखने वाले प्रत्येक मनुष्य की सामर्थ्य के भीतर यह है कि वह अपनी चैत्य क्रियाओं में सच्चा हो चाहे ये दुर्लभ ही क्यों न हों। परन्तु शरीर के कोषाणुओं में सच्चा

---

* Yoga of Sri Aurobindo VII N. K. Gupta

होना, अधिक दुर्लभ और अधिक कष्ट-साध्य सिद्धि है। इसका अर्थ है शरीर के कोषाणुओं को ऐसा एक लक्ष्योन्मुखी बना देना कि वे भी यह अनुभव करने लगें कि उनका अस्तित्व केवल भगवान् के लिए, भगवान् में और भगवान् के द्वारा है। यही सच्ची सचाई है, सत्य निष्ठा है और तुम्हें इसे ही प्राप्त करना चाहिए।

"सबसे पहले तुम्हें यह ध्यान में रखना चाहिये कि तुम्हारे जीवन में कोई भी दिन, कोई भी घंटा, कोई भी मिनट ऐसा नहीं है जबकि तुम्हें अपनी सचाई का परिशोध न करते रहना या उसे प्रगाढ़ न बनाते रहना हो। मैं यह नहीं कहती कि तुम भगवान् को धोखा देते हो। भगवान् को कोई भी धोखा नहीं दे सकता, यहाँ तक कि बड़े से बड़ा असुर भी नहीं। जब तुम इसे समझ लेते हो तभी तुम्हें अपने दैनिक जीवन में सदा ऐसे क्षण मिलेंगे जबकि तुम अपने आपको धोखा देने का प्रयत्न करते हो। जो कुछ तुम करते हो उसके समर्थन में अनायास ही तुम तर्क ले आते हो। मैं ऐसी स्थूलतर वस्तुओं के विषय में बात नहीं कर रही हूँ जैसा कि उदाहरणस्वरूप तुम स्वयं ही किसी मनुष्य के साथ झगड़ा उठाते हो और फिर क्रोध में आकर सारा दोष उसके ही सिर पर मढ़ देते हो। मैं एक ऐसे बालक को जानती हूँ जिसने कि दरवाजे को दोषी मान कर उसे मुक्का मारा। जानना चाहिये कि गलती करने वाला सदा दूसरा ही पक्ष होता है। यहां तक कि इस लड़कपन की अवस्था से अतीत हो जाने पर भी, जबकि तुम कुछ अधिक विचारवान् माने जाते हो, तुम अत्यन्त मूर्खता के कार्य करते हो और अपने आपको उचित ठहराने में तर्क उपस्थित करते हो। सचाई की यथार्थ परीक्षा, सच्ची सत्यनिष्ठा की कम से कम अवस्था

की परीक्षा यहीं है। किसी विशेष परिस्थिति के प्रति जो तुम्हारी प्रतिक्रिया है उसमे तुम्हारी परीक्षा है ; यह देखना है कि क्या तुम उस परिस्थिति मे अनायास ही समुचित भाव रखते हो और ठीक-ठीक वही करते हो जो करना चाहिये। उदाहरणस्वरूप, जब कोई व्यक्ति क्रोध मे भर कर तुम से कुछ कहता है तो क्या तुम उसकी छूत को पकड़ लेते हो और स्वयं भी क्रुद्ध हो जाते हो अथवा क्या तुम अचल शान्ति और प्रसन्नता बनाये रखते हो, दूसरे मनुष्य के दृष्टि-बिन्दु को देखते हो या जैसा करना चाहिए वैसा वर्ताव करते हो ?

"मैं कहती हूँ कि यह सचाई का प्रारम्भिक रूप है। और यदि तुम अपने भीतर तीक्ष्णतर दृष्टि से देखोगे तो तुम्हे ऐसी हजारो असत्यताओ का पता चलेगा जो कि सूक्ष्मतर हैं किन्तु पकड़ मे आ सकती हैं। सच्चा होने का प्रयत्न करो, तुम्हे ऐसे बहुत से अवसर मिलेंगे जब कि तुम अपने आपको असच्चा पाओगे, तब तुम्हे पता चलेगा कि सच्चा होना कितना कठिन है। तुम कहते हो कि मैं भगवान् का हूँ, केवल भगवान् का किसी दूसरे का नहीं, "वह केवल भगवान् ही हैं जो मुझे प्रवृत्त करते हैं और सब कुछ मेरे भीतर करते हैं और फिर तुम करते वह हो जो स्वयं तुम्हें अच्छा लगता है। तुम अपनी कामनाओं और भोग-विलासो की तृप्ति को ढकने के लिए भगवान् को आवरण बना लेते हो*। यह भी एक स्थूल असत्यता

* उदाहरणस्वरूप तुम्हारी जिह्वा किसी पदार्थ के स्वाद में आसक्त होकर उसे खाना चाहती है। तुम यह सोचकर कि भगवान् ही तुम्हारे भीतर उस वस्तु को खाना चाहते हैं उसके रसास्वादन में, भोग में लिप्त हो जाते हो।

है और इसे पहचानना तुम्हारे लिए कठिन नहीं होना चाहिए, यद्यपि यह बहुत सर्वसामान्य धोखा है, संभवत यह अपने आपको धोखा देने की अपेक्षा दूसरों को धोखा देना है। मन इस विचार को पकड़ लेता है, "यह सब ब्रह्म है" (सर्वं खल्विदं ब्रह्म), "मैं ब्रह्म हूँ" (अहं ब्रह्मास्मि)— और तुम विश्वास करते हो अथवा विश्वास करने का बहाना करते हो कि तुमने इसे अनुभव कर लिया है और तुम कोई गलती नहीं कर सकते। जबकि तुम अपनी भूलों को रखने के लिये भगवान् को आवरण नहीं बनाते, तब भी असत्यता के या सचाई की कमी के सूक्ष्मतर रूप होते हैं। जबकि तुम यह सोचते हो कि तुम सच्चे हो तब भी तुम्हारे भीतर ऐसी क्रियायें हो सकती हैं जो कि बिल्कुल सीधी नहीं होतीं, यदि तुम उनके पीछे गहराई मे घुसकर ढूँढोगे तो तुम्हें अनेक अवाञ्छित वस्तुएं छिपी हुई पड़ी मिलेंगी। अपने दैनिक जीवन के सीमातट पर एकत्रित हुए विचारों, सवेदनो और अन्तर्वेगों का, छोटी छोटी क्रियाओं का निरीक्षण करो। उनमें से कितनी एकमात्र भगवान् की ओर प्रवृत्त हुई हैं, कितनी किसी उच्चतर वस्तु के प्रति अभीप्सा से प्रज्ज्वलित हैं? यदि तुम्हें इस प्रकार की कुछ क्रियाएं मिल जायें तो तुम अपने आपको भाग्यशाली समझो"।

पूरी सच्चाई (Perfect Sincerity)

जब मैं यह कहती हूँ कि यदि तुम सच्चे हो तो तुम्हें निश्चय ही विजय प्राप्त होगी, तो इससे मेरा अभिप्राय उस सचाई से है जो पूर्ण और अविभक्त है[1]।

(१) The Yoga of Sri Aurobindo : N. K. Gupta P. VII.

"पूर्णतया सच्चा होने का अर्थ है केवल दिव्य सत्य की अभीप्सा करना, अपने आपको अधिकाधिक भगवती माता के समर्पण करना, केवल इस अभीप्सा के अतिरिक्त दूसरी अपनी व्यक्तिगत समस्त मांगों और कामनाओं का परित्याग कर देना, अपने जीवन के प्रत्येक कर्म को भगवान् के अर्पण करना और अपने अहं को उसके भीतर घुसेड़े बिना उसे इस भाव से करना कि भगवान् ने ही तुम्हें यह काम दिया है[१]"।

"यह वह शुद्ध अग्नि है जो कि धूप-दीप के समान प्रदीप्त होती है; यह है केवल भगवान् के लिये, न कि किसी दूसरी वस्तु के लिए अस्तित्व धारण करने का प्रगाढ़ हर्ष, एकमात्र भगवान् में निवास करने के सिवाय, दूसरा कुछ भी जीवन धारण करने का अर्थ या हेतु नहीं। यदि यह भीतरी अभीप्सा, परम सत्य के प्रति, उस सबके प्रति जिसे हम भगवान् कहते हैं, यह उन्मीलन नहीं है तो कुछ भी मूल्य नहीं रखता, न रोचक लगता है। जिस एकमात्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए विश्व का अस्तित्व है तुम्हे उसकी ही सेवा करनी चाहिये, उसके न होने पर सब कुछ लुप्त हो जाता है*"।

प्रश्न— क्या मनुष्य के लिए पूर्णतया सच्चा होना संभव है ?

उत्तर— "यदि यह जैसा है वैसा ही बना रहे तो निःसन्देह संभव नहीं है। परन्तु यह अपने आपको इतना रूपान्तरित कर सकता है कि यह पूर्णतया सच्चा बन जाय।

(१) योग के आधार।

*The Yoga of Sri Aurobindo
P. VII. N.K. Gupta.

"यह बात प्रारम्भ में ही कह देनी चाहिये कि सच्चाई एक विकमनशील वस्तु है। जैसे जैसे मानव सत्ता उन्नत एवं विकसित होती है और विश्व अपने विकासक्रम में अपने आपको अभिव्यक्त करता है, वैसे वैसे सच्चाई भी निरन्तर पूर्णता प्राप्त करती जाती है। यदि विकास मे बाधा पड जाय तो बीते काल की सत्यता अवश्य ही आने वाले काल की असत्यता में बदल जायगी"।

(शा दि प फर्वरी १९५७)

"यदि तुम्हे इस बात का विश्वास होगया हो कि तुमने पूर्ण सत्यता प्राप्त करली है तो तुम निश्चयपूर्वक जानलो कि तुम असत्य (मिथ्यात्व) के भीतर बहुत गहरे अंधकूप में पहुच गये हो"।

(शा दि प अगस्त १९५८)

"हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि चेतना के प्रत्येक स्तर का अपना मापदंड है, जो बात मन के लिए सत्य है वह उच्च चेतना के लिए आंशिक ही सत्य हो सकती है। परन्तु आंशिक सत्य के ही द्वारा चलकर मन परवर्त्ती विशालतर और पूर्णतर सत्य पर पहुँचता है। इसके लिए एकमात्र आवश्यकता है मन का खुला हुआ और नमनशील होना, जब भी कभी उच्च सत्य आये तो मन उसे पहचान ले और मान ले, न कि निम्नकोटि के सत्य को अपना मानकर उसके साथ चिपटा रहे, अपने प्राणमय कामनाओं और आवेशों से नवीन प्रकाश को अन्धा या विकृत न होने दे। जब एक बार उच्च चेतना क्रिया करने लगती है तो कठिनाई कम हो जाती है और एक सत्य से महत्तर सत्य की ओर स्पष्टतया प्रगति होने लगती है"। (श्री अरविन्द-पत्र २२।१२।१९३३)

पूर्णतया सच्चा होने के साधन

[क]

पूर्ण प्रसन्नता

"पूर्णतया सचा होने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य मे अपनी व्यक्तिगत कोई अभिरुचि, कोई कामना, कोई आकर्षण या घृणा, सहानुभूति या विरोध, राग या द्वेष न हो। जब तक तुम इन्हे अपने भीतर बनाये रखते हो, तब तक तुम पूर्णतया सच्चे नहीं हो सकते।

"मानसिक, प्राणिक और यहा तक कि शारीरिक क्रिया भी अनायास ही मिथ्या हो जाती है। मैं (यहा) शारीरिक क्रिया पर बल दे रही हूँ, क्योंकि इन्द्रियों की क्रिया भी मिथ्या रूप धारण कर लेती है। जब तुम्हारी अपनी अभिरुचि रहती है तो तुम वस्तुओं को उस रूप मे नहीं देखते, नहीं सुनते, न उनका उस रूप मे स्वाद लेते या अनुभव करते हो जैसी कि वे अपने यथार्थ स्वरूप मे हैं, जब तक तुम ऐसी अवस्था में हो कि कुछ वस्तुएं तुम्हें प्रसन्न करती हैं और कुछ अप्रसन्न, कुछ आकर्षित करती हैं और कुछ घृणा उत्पन्न करती हैं तब तक तुम उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं देख सकते। तुम उन्हें अपनी प्रतिक्रिया, अभिरुचि या अपनी घृणा के चश्मे के मध्य से देखते हो। इन्द्रिया जो कि उपकरण हैं उसही प्रकार मिथ्या हो जाती हैं जिस प्रकार कि संवेदन, भावनाये या विचार मिथ्या हो जाते हैं।

"इसलिए यदि तुम जो कुछ देखते हो, जो अनुभव करते हो और सोचते हो उसकी सचाई के विषय मे निश्चित होना चाहते

हो तो तुम्हें पूर्ण असंगता की अवस्था तक अवश्य पहुंच जाना चाहिये। स्पष्ट ही यह कोई सरल कार्य नहीं है। किन्तु जब तक ऐसा नहीं हो जाता तुम्हारा प्रत्यक्ष अनुभव पूर्णतया सचा नहीं हो सकता और इसलिये वह सचाई से, सत्यनिष्ठता से युक्त भी न होगा।

[ख]

समग्र अन्तर्दर्शन : समभाव

"मनुष्य को वस्तु संबंधी ऐसे पूर्ण एवं समग्र अन्तर्दर्शन (vision) में निवास करना चाहिये जिसमें प्रत्येक वस्तु अपना उचित स्थान रखती है और जिसमें सब वस्तुओं के प्रति समभाव, वह भाव जो कि सचा अन्तर्दर्शन प्रदान करता है, बना रहता है।

[ग]

दिव्यभावापन्न करने का निश्चय

"यह स्पष्ट है कि मनुष्य के लिये इस कार्य को सम्पन्न करना बहुत कठिन है, और जब तक वह अपने आपको दिव्यभावापन्न करने का निश्चय नहीं कर लेता तब तक इन द्वन्द्वों से अपने आप को मुक्त करना उसके लिए असम्भव है।

× × ×

"परन्तु हमने यह उच्चतम अवस्था की चर्चा की है। असत्यता के अनेक स्थूल रूप भी हैं जिन्हें प्रत्येक मनुष्य समझता है और मेरे विचार में उन पर बल देने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। उदाहरणस्वरूप, मनुष्य कहता कुछ है पर सोचता है और कुछ, एक काम करने का बहाना करता है परन्तु करता कुछ और

है, ऐसी इच्छा को प्रकट करता है जोकि उसकी सची इच्छा नहीं होती आदि आदि। यहां मैं उस बिल्कुल स्थूल प्रकार के असत्य की चर्चा नहीं कर रही हूँ जिसमें मनुष्य जो कुछ वास्तव में है उससे भिन्न कहता है। मैं व्यवहार संबंधी उस कूटनीति की बात भी नहीं कर रही हूँ जिसमें मनुष्य एक विशेष फल प्राप्त करने के लिये ही कार्य करता है, विशेष परिणाम उत्पन्न करने के लिये कोई बात कहता है; न मैं इनके उन मिले-जुले रूपों की चर्चा कर रही हूं जिनमें तुम स्वयं अपना ही विरोध करते हो— यह सब इतनी स्पष्ट प्रकार की असत्यता है कि इसे प्रत्येक मनुष्य सरलता से पहचान सकता है।

"परन्तु कुछ दूसरी प्रकार के ऐसे असत्य हैं जो अधिक सूक्ष्म हैं और इसलिए उन्हें पहचानना अधिक कठिन होता है। उदाहरण-स्वरूप जब तुम्हारे भीतर सहानुभूति और घृणा की भावना रहती है तो स्वभावतः ही, अथवा दूसरे शब्दों में अनायास रूप से ही, जिसके प्रति तुम्हें व्यक्तिगत सहानुभूति है उसके प्रति तुम्हारा दृष्टिकोण अनुकूल रहेगा और जिसके प्रति घृणा है उसके प्रति प्रतिकूल। यहाँ भी सत्यता का अभाव स्पष्ट दिखाई देगा। परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि तुम अपने आपको धोखा दे रहे हो और यह न जान सको कि तुम झूठे हो। ऐसी अवस्था में कारण यह होता है कि तुम्हें एक मानसिक असत्यता का सहयोग प्राप्त हो जाता है। क्योंकि, यह सत्य होते हुए भी कि सत्यता का नियम सर्वत्र एक समान है, असत्यता देहधारी की सत्ता की अवस्थाओं और भागों के अनुसार भिन्न भिन्न रूप धारण कर लेती है।

"परन्तु हर प्रकार की असत्यता का मूलस्रोत सदा वही क्रिया

होती है जो कि कामना से, व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति की अभिलाषा से, अहंकार और अहंकारजनित परिच्छिन्नताओं के समूह से और कामनाजन्य विचारों से उत्पन्न होती है।

[घ]

अहंकार से अतीतता और आत्मसमर्पण

"सच बात तो यह है कि जब तक अहंकार विद्यमान रहता है तब तक तुम पूर्णतया सच्चे नहीं बन सकते, चाहे इसके लिए कितनी भी चेष्टा क्यों न करो। तुम्हें अहंकार से अतीत होना होगा, अपने आपको पूर्णतया भगवान् के संकल्प के प्रति दे देना होगा, बिना बचाये या छिपाये या गणना किये दे देना होगा। केवल तभी तुम पूर्णतया सच्चे हो सकते हो, इससे पहले नहीं।

(शा० शि० प० फर्वरी १९५७)

[ङ]

सत्य के लोक में आरोहण

"संभवतः पूर्ण सचाई तभी आ सकती है जबकि तुम मिथ्यात्व के इस क्षेत्र से ऊपर उठ जाओगे जो कि हमारा वर्त्तमान समय का पार्थिव जीवन है, यहां तक कि हमारा उच्च मानसिक जीवन भी है। जब तुम उच्च स्तर पर, सत्य के लोक में पहुंच जाओगे केवल तभी तुम वस्तुओं को उनके सच्चे रूप में देख सकोगे, और उनके सच्चे रूप को देखकर ही तुम उनके सत्य में निवास करोगे। तब सब मिथ्यात्व स्वाभाविक रूप में दूर हो जायंगे और वे सब अनुकूल व्याख्यायें लुप्त हो जायंगी, कारण उनके अस्तित्व का अब कोई कारण नहीं रह जायगा, क्योंकि तब कोई ऐसी वस्तु ही

न रह जायगी जिसकी व्याख्या करने की आवश्यकता हो।

उस समय वस्तुएं स्वयं प्रकाशित और प्रमाणित होंगी, भूल की संभावना न रहेगी, सत्य अपने रूपों मे जगमगा उठेगा।

(शारी० शि० प० अगस्त १९५८)

"परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम जितना अब सच्चे हो उससे अधिक सच्चे होने के लिए प्रयत्न न करो और यह कहो : 'जब तक मेरा अहंकार दूर नहीं हो जाता तब तक मैं सच्चा बनने की प्रतीक्षा करूंगा'। ऐसा सोचने के बजाय इस वाक्य को उलट कर यह कहना चाहिये कि यदि तुम सच्चे भाव से सच्चा होने का प्रयत्न नहीं करोगे तो तुम्हारा अहंकार कभी दूर नहीं होगा।

"सच्चाई समस्त सभी प्राप्तियों का आधार है। यह साधन है, मार्ग है और साथ ही लक्ष्य भी है। यह निश्चय समझो कि सच्चाई न होने पर तुम बार-बार गलतियां करोगे और इससे जो तुम अपने आपको और दूसरों को क्षति पहुँचाओगे उसकी पूर्ति करने के लिए तुम्हें निरन्तर प्रयत्न करते रहना पड़ेगा।

"इसके अतिरिक्त सच्चा बनने में एक अद्‌भुत आनन्द है। सच्चाई के प्रत्येक कर्म में उसका पुरस्कार रहता है। जब मनुष्य असत्यता के एक कण का भी परित्याग कर देता है तो उसे पवित्र बनने, ऊपर उठने और मुक्त होने की अनुभूति प्राप्त होती है, यह भावना उसका विचित्र पुरस्कार है। सच्चाई सुरक्षा है और अन्त में यह रूपान्तरकारी शक्ति है" [१]।

---

(१) श्री माता जी—
शारीरिक शिक्षण पत्रिका फरवरी १९५७।

"सब मानव विषयक विज्ञान तथा दर्शन खगोल विद्या, गणित, रसायन विद्या और भौतिक विद्या सत्य की खोज करते हैं। किन्तु छोटी-छोटी बातों में भी सत्य की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि बडी में।

"प्यारे बच्चो! सत्य बोलना सीखने के लिए बडे होने की प्रतीक्षा मत करो। सत्यवादी बनने और सत्य में स्थिर रहने का अभ्यास डालने के लिये कोई भी समय अतिशीघ्र नहीं कहा जा सकता[1]"।

"सच्चे होने पर तुम दिव्य जीवन में संवर्धित होगे[2]"।

इति

---

(१) सुन्दर कहानियाँ।
(२) योग के आधार।

परिशिष्ट

सुभाषित सुधा

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तत्सत्यम् ॥

छा० ६।२।१; ६।८।७॥

सत्यं ह्येव ब्रह्म । बृ० ५।४॥

तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यम्।छा० ८।३।४॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । तै० उ० २।१।१॥

सत्यं ऋतं बृहत् । अथर्व १२।१।१॥

ऋत चित् । ऋ० ४।३।४; ५।३।४॥

सत्यं ब्रह्म, तपः सत्यं, सत्यं विसृजते प्रजाः ।
सत्येन धार्यते लोकः, स्वर्गं सत्येन गच्छति ॥

महा० शा० १६०।१॥

सत्येनार्कः प्रतपति, सत्ये तिष्ठति मेदिनी ।
सत्यं चोक्तं परोधर्मः, स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः ॥

मार्कण्डेय पुराण ८।४१॥

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
श्रुतिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत् ॥

महा. शा. १६२।२४॥

अश्वमेध सहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

म० शा० १६२।२६॥

सुभाषित सुधा

सृष्टि से पहले एकमेवाद्वितीय सत् था। वही सत्य है।

सत्य ही ब्रह्म है।

उस ब्रह्म का नाम सत्य है।

• ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है।

ब्रह्म की वह दिव्य ज्ञानमयी शक्ति जो विश्व का कल्पना करती (मापती) है और उसे सृष्ट करती है माया या 'सत्यं ऋतं बृहत्' या ऋत चित् कहलाती है।

सत्य ब्रह्म है, सत्य तप है, सत्य प्रजा को सृष्ट करता है। सत्य से पृथ्वीलोक धारित किया जाता है। सत्य से मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त करता है।

• सत्य से सूर्य तपता है, सत्य के आधार पर पृथ्वी स्थित है, सत्य को परम धर्म कहा गया है, स्वर्ग सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित है।

सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं है और असत्य से बड़ा कोई पाप नहीं है। सत्य धर्म का आधार है इसलिए सत्य को नहीं छोड़ना चाहिये।

सहस्र अश्वमेध यज्ञ और सत्य को तोलने से पता चलता है कि सहस्र अश्वमेध की अपेक्षा सत्य श्रेष्ठ होता है।

सत्यमत्यन्तमुदितं धर्मशास्त्रेषु धीमताम्।
तारणाय, अनृतं तद्वन् पातनायाकृतात्मनाम्॥
मार्कण्डेय पुराण ८।२०॥

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव॥
महा० उ० ३३।४७॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति॥
प्र० १।१४॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
मु० ३।१।४॥

अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः॥
ऋ० १।४६।११॥

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥
मु० ३।१।६॥

सत्यानुसारिणी लक्ष्मीः कीर्त्तिस्त्यागानुसारिणी।
अभ्यासानुसारिणी विद्या बुद्धिः कर्मानुसारिणी॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतं वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत्॥
मनु० ६।४६॥

धर्मशास्त्रो में बुद्धिमानो ने सत्य को मनुष्य के तारने के लिए अत्यन्त श्रेष्ठ साधन बतलाया है और झूठ को पतन करने वालो में प्रधानतम कहा है।

जिस प्रकार समुद्र के पार जाने का साधन नौका है इसही प्रकार स्वर्ग में पहुँचने का साधन सत्य है।

यह विशुद्ध ब्रह्मलोक उन्हे ही प्राप्त होता है जिनमें कुटिलता, असत्य और छलकपट नही हैं।

यह आत्मा सत्य से और तप से प्राप्त होता है।

सत्य का मार्ग चलने में श्रेष्ठ है, इसे मर्त्यलोक से परे जाने के लिए बनाया गया है, इसे द्युलोक में जाता हुआ देखा गया है।

सत्य ही विजयी होता है अनृत नही। सत्य से देवो की यात्रा का मार्ग विस्तृत हुआ है, जिसके द्वारा ऋषि अपनी कामनाओ को जीतकर वहा आरोहण करते हैं जो सत्य का परम निधान (आश्रय) है।

लक्ष्मी सत्य का अनुसरण करती है, कीर्ति त्याग का अनुसरण करती है, विद्या अभ्यास का अनुसरण करती है और बुद्धि कर्म का अनुसरण करती है।

दृष्टि से देखकर पैर रखे, वस्त्र से छानकर जल पीये, सत्य से पवित्र की हुई वाणी बोले और शुद्ध मन से उसके अनुसार आचरण करे।

अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसावृताः ॥१६०।२॥

स्वर्गः प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च ॥१६०।३॥
महा० शा०

यत्सत्यं स धर्मो, यो धर्मः स प्रकाशो, यः प्रकाशः तत्सुखमिति।
महा० शा० १६०।४॥

यदनृतं सोऽधर्म, योऽधर्मः तत्तमः, यत्तमः तद्दुःखमिति॥
महा० शा० १६०।४॥

अग्निहोत्रमधीतं वा दानाद्याश्चाखिलाः क्रियाः।
भजन्ते तस्य वैफल्यं यस्य वाक्यमकारणम्॥
मार्कण्डेय ८।१६॥

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥
मनु० ४।१३८॥

अप्रियस्य च सत्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।
महा० उ०॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्विषी॥
मनु० ८।१३॥

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे॥ पा० यो० भा० २।३०॥

सत्यं न तद् यच्छलमभ्युपैति॥

अनृत तम रूप होता है, तम से मनुष्य नीचे गिरता है, तम से आवृत मनुष्य प्रकाश को नही देखते।

प्रकाश स्वर्ग है और तम नरक रूप होता है।

सत्य धर्म है, धर्म प्रकाश है, प्रकाश सुख है।

अनृत अधर्म है, अधर्म तम है, तम दुःखरूप है।

अग्निहोत्र, अध्ययन और दान आदि समस्त कर्म असत्यभाषी के निष्फल होते हैं।

सत्य बोले, प्रिय भाषा में बोले, सत्य को अप्रिय भाषा में न बोले, प्रिय लगे इसलिए अनृत न बोले—यह सनातनधर्म है।

अप्रिय सत्य का कहने वाला और सुनने वाला दुर्लभ होता है।

सभा में या तो मनुष्य को जाना नही चाहिये, यदि मनुष्य जाता है तो उसे यथार्थ बात कहनी चाहिये, न कहने पर या अयथार्थ बात कहने पर मनुष्य दोषी होता है।

वाणी और मन की सच्चाई को सत्य कहा जाता है।

जिस वाणी में छल हो वह सत्य नही होती।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कार्येऽन्यद् दुरात्मनाम्॥

श्मशानवद् वर्जनीयो हि नरः सत्यबहिष्कृतः।
मार्कण्डेय ८।१७।

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे,
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वन्हिः।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां,
न भवति पुनरुक्तं भाषितं सज्जनानाम्॥
सु० र० भा०

रामो द्विर्नाभिभाषते॥
वा० रा०

रघुकुल रीति सदा चली आई।
प्राण जाईं पर वचन न जाई॥

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै सकल संसार।
पै सत्यव्रती हरिश्चन्द्र को टरै न दृढ़ विचार॥

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥
भर्तृहरि— नीति शतक

आत्मार्थे वा परार्थे वा पुत्रार्थे वाऽपि मानवाः।
अनृतं ये न भाषन्ते ते बुधाः स्वर्गगामिनः॥

महात्माओं के मन, वचन और कर्म में एकता रहती है और दुरात्माओं के मन में कुछ होता है, वाणी में दूसरा और कर्म में कुछ और ही।

जिस मनुष्य में सत्य नही है उसका श्मशान के समान बहिष्कार कर देना चाहिये।

सूर्य चाहे पश्चिम में उदय होने लगे, मेरु पर्वत चाहे चलने लगे, अग्नि चाहे शीतल हो जाय, कमल चाहे पर्वत शिला पर उगने लगे, परन्तु सज्जन मनुष्य अपने कहे हुए वचनो को नही बदलते।

राम जो एक बार कह देता है उसे नही बदलता।

रघुकुल की सदा से यह रीति चली आई है कि चाहे प्राण चले जायं पर वचन नही जाते।

चद्र और सूर्य चाहे अपनी गति छोड दें, चाहे सपूर्ण ससार अपनी गति छोड दे किंतु सत्यव्रती हरिश्चन्द्र अपने दृढ निश्चय को नहीं छोड सकता।

ससार के नीति-निपुण मनुष्य चाहे निन्दा करें या स्तुति, लक्ष्मी प्राप्त होती हो या नष्ट होती हो, आज ही मृत्यु होती हो या युगो का जीवन प्राप्त होता हो, धीर मनुष्य न्याय्य पथ से, सत्य के पथ से विचलित नही होते।

जो मनुष्य अपने लिए, दूसरो के लिए अथवा पुत्र के लिए भी असत्य नहीं बोलते वे स्वर्ग में जाते हैं।

पुत्रस्याऽपि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतंवदेत् ॥

सत्यमूल सब सुकृत सुहाए।
वेद पुराण विदित मनु गाए ॥
रा० अ० २८।३॥

नहि असत्य सम पातक पुंजा।
गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा ॥
रा० अ० २८।३॥

सांच बरोबर तप नहीं झूठ बरोबर पाप।
जाके हृदय सांच है ता हृदय हरि आप ॥
—कबीर

तनु तिय तनय धामु धनु धरनी।
सत्यसंध कहं, तृन सम बरनी ॥
रा० अ० ३४।४॥

लेखा देना सहज है जो दिल सांचा होय।
साईं के दरबार में, पला न पकरै कोय ॥
—कबीर

झूठे को तजि दीजिये सांचे में करि नेह।
दा०

सूधा मारग सांच का, सांचा होइ सो जाई।
झूठा कोई ना फले, दादू दिया दिखाई ॥
दा०

पुत्र के लिए भी प्रह्लाद अनृत नही बोलेगा।

सत्य समस्त उत्तम गुणो (पुण्यो) का मूल है। यह बात वेद और पुराणो में प्रसिद्ध है और मनुजी ने भी यही कहा है।

असत्य के समान पापो का समूह नही है। करोडो घुघचिया मिलकर भी क्या पर्वत के समान हो सकती हैं ?

सत्य के बराबर तप नही है और झूठ के समान पाप नही है, जिसके हृदय में सत्य निवास करता है उसके हृदय में स्वय भगवान् निवास करते हैं।

सत्यव्रती के लिए शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन और पृथ्वी सब तिनके के समान कहे गये हैं।

यदि हृदय सच्चा है तो प्रभु के दरबार में कर्मों का हिसाब देना सरल है, फिर वहा तेरा कोई पल्ला नही पकड सकता।

असत्य को छोड दो और अपना प्रेम सत्य में बनालो।

सत्य का मार्ग तो बिलकुल सीधा है, जो सच्चा हो वह इस मार्ग से सीधा चला जाय। हमें तो यह दिखाई दिया है कि असत्य के मार्ग पर चलने वाला कोई भी मनुष्य सफल नही होता।

दादू देखै साईं सोर्ट, सांच विना संतोष न होई।
दा०

दया धर्म का रूखड़ा, सत सों बधता जाय।
संतोष सों फूलै फलै, दादू अमर फल खाय॥
दा०

सत-समरथ में राखि मन, करिय जगत् का काम।
जगजीवन यह मंत्र है, सदा सुक्ख विसराम॥
—जगजीवन

पलटू नेरे सांच के, भूठे से रह दूर।
दिल में आवै सांच जो, साहिब हाल हुजूर॥
—पलटूदास

हम सत्य नाम के वैपारी।
कोई कोई लादै कांसा-पीतल, कोई कोई लौंग सुपारी।
हम तो लादा नाम धनी का, पूरन खेप हमारी॥
पूंजी न टूटै नफा चौगुना, वनिज किया हम भारी।
हाट जगाती रोक न सकि है, निर्भय गैल हमारी॥
—धर्मदास

बिना सत्य के इस जीवन में भी संतोष नही होता। प्रभु का दर्शन सच्चे, संतोषी को ही होता है।

सत्य का जल पाकर दया धर्म का वृक्ष नित्य बढ़ता ही जाता है, और वह संतोष से फलता फूलता है। वे बड़भागी हैं जो उसका अमृत फल चखते हैं।

यदि तू सदा सुख और शान्ति चाहता है तो यह मंत्र सीख ले—तू मन को सत-समर्थ पुरुष (ईश्वर) में लगाये रख और जगत् के कर्त्तव्य कर्म करता रह।

पलटूदास कहता है कि हमारा स्वामी तो सच्चे के ही समीप रहता है और झूठे से दूर रहता है। यदि हृदय में सत्य है तो भगवान् सदा सामने ही उपस्थित हैं।

हम तो बाबा! सत्य नाम के व्यापारी हैं। कोई तो कांसा-पीतल लाद-लाद कर लाते हैं और कोई लौंग-सुपारी का बनज करते हैं; पर हम तो स्वामी के सत्यनाम की पूरी खेप लाद कर लाये हैं। इस बनज में कभी टोटा नही होता और लाभ चौगुना होता है। हाट बाजार में हमें कोई चुंगी लेने वाला नही रोक सकता। हमारे मार्ग में किसी तरह (चोर डाकू) का भय भी नही है।

रामकृष्ण परमहंस

सत्य भाषण ही कलियुग की तपस्या है। सत्यनिष्ठा के बल से भगवान् को प्राप्त कर सकते हैं। सत्यनिष्ठा न हो तो मनुष्य का धीरे धीरे सर्वनाश होजाय।

स्वामी दयानन्द

(१) सब सत्य विद्या और सत्य विद्या से जो पदार्थ जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

(२) सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग करने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

(३) सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहियें।

(४) जो भक्त उपासना का अभ्यास करना चाहे उसके लिए उचित है कि वह किसी से वैर न रखे, सबसे प्रीति करे; सत्य बोले, मिथ्या कभी न बोले; चोरी न करे, सत्य का व्यवहार करे; जितेन्द्रिय हो, विषय लम्पट न हो; निरभिमान हो; रागद्वेष छोड़ भीतर बाहर पवित्र रहे।

स्वामी रामतीर्थ

(१) सत्य तो वह है जो तीनों कालों में एकसमान रहता है, जैसा कल था वैसा ही आज है और वैसा ही सदा रहेगा। किसी घटना विशेष से उसका संबन्ध नहीं जोड़ा जा सकता।

(२) तुम एकमात्र सत्य पर आरूढ़ रहो, इस बात से भयभीत न हो कि अधिकांश लोग तुम्हारे विरुद्ध हैं।

(३) तुम सत्य को प्राप्त कर सको, सत्य भाव का अनुभव कर

सको, इसके लिए यह आवश्यक है कि तुम्हारी प्यारी से प्यारी अभिलाषायें और कामनायें पूर्णतया छिन्न भिन्न करदी जायं, तुम्हारी प्यारी से प्यारी ममतायें (आसक्तियां) तुमसे पृथक् करदी जायं और तुम्हारे चिरपोषित अंधविश्वास नष्ट भ्रष्ट कर दिये जायं। इन से तुम्हारा, तुम्हारे शरीर का कोई संबंध न रहे।

(४) पूर्ण सत्य प्राप्त करने के लिए तुम्हें सांसारिक कामनाओं का त्याग करना होगा, रागद्वेष से ऊपर उठना होगा। तुम्हारे जो रिश्ते नाते तुम्हें बांधकर गुलाम बनाते और नीचे गिराते हैं उन्हें नमस्कार करना होगा। यही साक्षात्कार का मूल्य है। जब तक मूल्य न चुकाओगे सत्य को नहीं पा सकते।

महात्मा गांधी

(१) परमेश्वर का सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है। इसलिए परमेश्वर सत्य है यह कहने की अपेक्षा सत्य ही परमेश्वर है यह कहना अधिक अच्छा है।

(२) इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसही के लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसही के लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिये।

(३) साधारणतया सत्य का अर्थ सच बोलना मात्र समझा जाता है, परन्तु विचार मे, वाणी मे और आचार मे सत्य का होना ही सत्य है। इस सत्य को पूर्णतया समझने वाले के लिए जगत् में और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता।

(४) सत्यान्वेषी के लिए मौन बहुत बड़ा सहायक है। मौन वृत्ति मे अन्तरात्मा अधिक स्पष्ट प्रकाश मे अपने मार्ग को पा लेता

है और जो कुछ भ्रम या धोखा होता है वह उस स्पष्ट प्रकाश में दूर हो जाता है।

(५) अत्युक्ति करना, सत्य का दबाना या परिवर्तन करना मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है और इससे अतीत होने के लिए मौन की आवश्यकता है। कम बोलने वाला व्यक्ति अपने भाषण में कठिनाई से ही विचारहीन होगा। वह प्रत्येक शब्द को नाप तोलकर बोलेगा।

(६) हमारे चारों ओर इतना अधिक अन्धविश्वास और दंभ फैला हुआ है कि मनुष्य न्याय्य कर्म करने में भी डरता है। ऐसी स्थिति में राजनियम यह है कि जिसे मनुष्य न्याय्य समझता है उसे निर्भय होकर करे। ऐसा करने से असत्य और दंभ संसार में कम हो जायेंगे, कभी भी न बढ़ेंगे।

(७) सत्य को परमेश्वर मानना मेरे लिए अमूल्य धन रहा है। वह हममें से सबके लिए हो।

महावीर

(१) सदा प्रमादरहित और सावधान रहकर, असत्य को त्याग कर सत्य वचन ही बोलना चाहिये। इस तरह सत्य बोलना बहुत कठिन होता है।

(२) अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए, क्रोध से अथवा भय से— किसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाला असत्य वचन न तो स्वयं बोले, न दूसरों से बुलवाये।

(३) मिथ्या भाषण संसार में सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है और सभी प्राणियों को अविश्वसनीय है; अतः

मिथ्या भाषण सर्वथा छोड़ देना चाहिये।

(४) श्रेष्ठ मनुष्य क्रोध में, भय से अथवा हास्य में पापकारी (असत्य) वाणी न बोले। हंसते हुए भी पापवचन (असत्य) नहीं बोलना चाहिये।

(५) आत्मार्थी साधक को दृष्ट (सत्य), परिमित, असन्दिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट, अनुभूत, वाचालता रहित और किसी को भी पीड़ा न पहुंचाने वाली वाणी बोलनी चाहिये।

(६) विचारशील मुनि को वचन-शुद्धि का भली भांति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदा के लिए छोड़ देनी चाहिये और खूब सोच विचार कर बहुत परिमित वचन बोलना चाहिये। इस तरह बोलने से सत्पुरुषों में महती प्रशंसा होती है।

(७) काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है तथापि ऐसा नहीं कहना चाहिये (क्योंकि इससे उन व्यक्तियों को निरर्थक दुःख पहुंचता है)।

(८) जो मनुष्य भूल से भी मूलतः असत्य किन्तु ऊपर से सत्य प्रतीत होने वाली भाषा बोलता है वह पाप से अछूता नहीं रहता, तब फिर जो जान-बूझ कर असत्य बोलता है उसके पाप का तो कहना ही क्या है?

× × ×

तत्स्थैर्यार्थं भावन.

क्रोध लोभ भीरुत्व हास्य प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणम् ॥

उमा स्वामी—तत्वार्थ सूत्रम् ७।५॥

सत्य को अपने भीतर स्थिर करने के लिए क्रोध, लोभ, भय,

हास्य का परित्याग करना चाहिये और शास्त्र के आदेश के अनुसार वचन बोलने चाहिये।

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासोपहार, साकार मंत्र भेदः— सत्याणुव्रतस्य प्रति चारा । तत्त्वार्थ सूत्रम् ७।२६।।

झूठे सिद्धान्त का उपदेश देना, किसी की गुप्त बात को प्रकट करना, छलपूर्ण लेख लिखना, किसी की धरोहर का अपहरण करना, किसी के गुप्त भेदों का पता चलाकर निरर्थक उनका प्रकट करना— ये कर्म सत्यव्रती को छोड़ देने चाहियें।

बुद्ध

(१) जो मनुष्य एकमात्र धर्म सत्य का त्याग करके मिथ्या बोलता है और परलोक की चिन्ता नहीं करता उससे कौनसा पाप बचा रह जाता है।

(२) असत्यभाषी नरकगामी होते हैं और वे भी नरकगामी होते हैं जो कहकर नहीं किया करते।

(३) जो मिथ्याभाषी है वह सिर मुंडाने से श्रमण (साधु) नहीं हो जाता।

(४) जिसे झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती उसका श्रामण्य (साधुत्व) उलटे घड़े के समान है। साधुता की एक बूंद भी उसके भीतर नहीं है।

(५) जिसे झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती उससे कौनसा पाप बचा रह गया? जिसने झूठ नहीं छोड़ा उसने कोई पाप नहीं छोड़ा। इसलिए तू ऐसा अभ्यास कर कि मैं हँसी में भी झूठ नहीं बोलूँगा।

(६) जितनी हानि शत्रु शत्रु की करता है, मिथ्या मार्ग का अनुगमन करने वाला चित्त उससे कहीं अधिक हानि पहुचाता है।

(७) सभा में, परिषद् मे अथवा एकान्त मे किसी से भी झूठ न बोले, झूठ बोलने के लिए दूसरों को प्रेरित न करे, न झूठ बोलने वालों को प्रोत्साहन दे, अत असत्य का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

(८) यदि कोई हमारे विरुद्ध झूठी बात कहता है तो उससे हमें अपनी भारी हानि हुई जान पडती है। इसही तरह "यदि असत्य भाषण से मैं दूसरा की हानि करूँ तो क्या उसे अच्छा लगेगा"?— ऐसा विचार करके मनुष्य को असत्य भाषण का परित्याग कर देना चाहिये और दूसरों को भी सत्य बोलने का उपदेश देना चाहिये। उसे तो सदा ईमानदारी की सराहना करनी चाहिये।

(६) असत्य का कदापि आश्रय न ले। न्यायाधीश ने गवाही के लिए बुलाया हो तो वहाँ भी जैसा देखा हो वही कहे, यदि न देखा हो तो कहदे मैंने नहीं देखा।

(१०) सत्य वाणी ही अमृत वाणी है, सत्य भाषण ही सनातन-धर्म है। सत्य, सदर्थ और सद्धर्म पर सन्तजन सदैव दृढ रहते हैं।

(११) सत्य एक ही है, दूसरा नहीं। सत्य के लिए बुद्धिमान् लोग विवाद नहीं किया करते। ये लोग भी कैसे हैं? साम्प्रदायिक मतों में पडकर अनेक तरह के तर्क उपस्थित करते हैं और सत्य एव असत्य दोनों का प्रतिपादन किया करते हैं। सत्य तो जगत् मे एक ही है अनेक नहीं।

(१२) जो मुनि है वह केवल सत्य को ही पकड़ कर और दूसरी समस्त बातों को छोड़कर संसार-सागर के पार पहुंच जाता है। उसही सत्य-निष्ठ मुनि को हम शान्त कहते हैं।

× × ×

जिस सुन्दरतम और श्रेष्ठतम आधार पर मनुष्य अपना जीवन प्रतिष्ठित कर सकते हैं वह सत्य है। इमरसन (Emerson)

सत्य विश्व का केन्द्रीभूत आधार है जिस पर यह आश्रित है और जिसमें यह अवस्थित है।

डब्ल्यू. एम. एवर्ट्स (W. M. Evarts)

जिस प्रकार शुभ हमारी इच्छा का ध्येय है इसही प्रकार सत्य हमारी बुद्धि का ध्येय है; जिस प्रकार हमारी इच्छा अशुभ को पसंद नहीं कर सकती इसही प्रकार हमारी बुद्धि असत्य में आनंद नहीं ले सकती। ड्राईडन (Dryden)

हमारा ध्येय सत्य होना चाहिए न कि सुख।

सुकरात (Socrates)

सत्य सभी ज्ञान का आधार है और सभी समाजों का संयोजक है। ड्राईडन (Dryden)

पूर्ण सत्य ज्ञान होने पर ही प्राप्त होता है, और ज्ञान होने पर पदार्थ का पूर्ण सारतत्त्व अन्तरात्मा पर क्रिया करता है और सार रूप में उससे संयुक्त हो जाता है।

स्पाइनोजा (Benedict Spinoza)

सत्य चाहे लोक सम्मत हो या न हो, ज्ञान का मापक और बुद्धि का व्यवसाय है; जो उससे बाहर है, चाहे वह सर्वसाधारण से

प्रमाणित हो अथवा अपने समय के श्रेष्ठ कहे जाने वाले दुर्लभ व्यक्तियों से अनुमोदित हो, कोरा अज्ञान है या इससे भी निकृष्ट है।

लौक (Locke)

सत्य समस्त आशीर्वादों से अधिक मूल्यवान् है। यह बुद्धि का नेत्र है, इसके बिना मनुष्य अन्धा है।

रोशियो (Rousseou)

सत्य इतनी महान् पूर्णता है कि यदि ईश्वर मनुष्य के सामने प्रकट होना चाहेगा तो वह प्रकाश को अपना शरीर बनायेगा और सत्य को अपना आत्मा।

पाईथागोरस (Pythagoras)

सत्य के तीन भाग हैं प्रथम खोज, जो कि उसकी प्रणय-प्रार्थना है; दूसरा उसका ज्ञान जो कि उसकी समीपता है; तीसरा उसमें विश्वास जो कि उसका उपयोग है। बेकन (Bacon)

सत्य की खोज मनुष्य का श्रेष्ठतम धन्धा है, उसका प्रकाशन कर्त्तव्य है। कुमारी डी स्टेल (Mad. de Stael)

सत्य को जानने के लिए सत्य को खोजना एक ऐसा श्रेष्ठतम उद्देश्य है कि जिसके लिए मनुष्य का जीवन धारण करना जीवन का साफल्य है। डीन इन्ज (Dean Inge)

बिना खोज किए सत्य का बिल्कुल ज्ञान नहीं हो सकता। न इसकी प्लेटफार्म से घोषणा की जा सक्ती है, न यह लेखों में वर्णन किया जा सकता है, न पार्सलों में तैयार किया और बेचा जा सक्ता है। सत्य को तो प्रत्येक मनुष्य को तुप में से दाने के समान परिश्रम से निकालना होता है; नि सन्देह मनुष्य दूसरों से

सहायता ले सकता है किन्तु प्राप्त तभी करेगा जब स्वयं कठोर प्रयास करेगा। रसकिन (Ruskin)

सत्य के अन्वेषण में, मनुष्य की मानसिक शक्तियों और सुविधाओं की वृद्धि में, प्रत्येक युग के मनुष्यों के लिए निर्धारित कर्त्तव्य होता है, और हमारी मानव जाति के लिए जो यह सनातन का कर्त्तव्य है हमें इसके पालन करने का प्रयास करना चाहिए। व्हीवेल (Whewell)

सत्य को पाने की अपेक्षा भ्रांत ज्ञान का पाना सरल है। कारण भ्रम तो उत्तल पर ही रहता है और इसलिए सरलता से दिखाई दे जाता है, परन्तु सत्य गहराई में रहता है जहां से खोज निकालने का प्रयास विरले ही करने के इच्छुक होते हैं। गेटे (Goethe)

जो सत्य की खोज करता है वह किसी भी देश का नहीं होता। वोल्टेयर (Voltair)

सत्य की स्थापना अनुसन्धान और विलम्ब में होती है, असत्य तीव्र वेग से अंधाधुंध बढ़ता है। टेसीटस (Tacitus)

मनुष्य को सत्य को सीखने के लिये सात वर्ष के शान्त अनुसंधान की आवश्यकता है किन्तु यह सीखने के लिये कि अपने साथियों को किस प्रकार उसका ज्ञान कराया जाय, चौदह वर्ष के प्रयास की आवश्यकता है। प्लेटो (Plato)

हमें किसी सत्य की पसेरी को इस कारण नहीं फेंक देना चाहिये क्योंकि उसमें कुछ कण भूसे के मिले हैं, इसके विपरीत यदि पसेरी भूसे में कुछ कण सत्य के हों तब भी हम उसे ग्रहण करके लाभ में ही रहेंगे। ए० पी० स्टैनले (A. P. Stanleu)

चाहे कहीं से भी क्यों न मिले— सत्य को ग्रहण करो— अपने मित्रों से, शत्रुओं से, सहधर्मियों से, विधर्मियों से। यह दिव्य कुसुम है— चाहे कहीं भी क्यों न उपजा हो।

वाल्ट्स (Walts)

सत्य का प्रधान लक्षण यह है कि वह हर प्रकार के अनुभव के परीक्षण को सहन करने मे समर्थ होता है, और हर प्रकार के सभव उचित परीक्षण या वादविवाद मे अपरिवर्तित रहता है।

सर जोन हरशैल (Sir John Herschel)

हमे किसी सत्य को इस कारण प्रकट करने मे सकोच नहीं करना चाहिये क्योंकि हम उसके सबध मे उठाये गये समस्त प्रश्नो का उत्तर नहीं दे सकते।

जेसीमी कोलीयर (Jesemy Collier)

सत्य की ओर प्रगति मे यदि सहस्त्रों पुराने विश्वास नष्ट होते हों तब भी हमे आगे बढ़ते जाना चाहिये।

स्टॉपफोर्ड ए० ब्रूक (Stopford A Brooke)

सत्य की सर्वोत्तम खोज है जिस सत्य को मनुष्य जानता है उसके अनुसार आचरण करने लगना।

होरेस बुशनेल (Horaco Brushnalc)

सत्य के प्रति प्रेम, उसमे विश्वास और दृढ़ता समस्त कर्त्तव्यों मे प्रथम और उच्चतम कर्त्तव्य है। ईश्वर से प्रेम करना और सत्य से प्रेम करना एक ही बात है।

सिल्वियो पैलिको (Silvio Pellico)

सत्य और न्याय से प्रेम ही हमारे भीतर भगवान् का प्रतिबिम्ब है।

डीमेस्थेनस (Demesthenes)

जो मनुष्य सत्य को केवल जानता है किन्तु उससे प्रेम नहीं करता वह चमगीदड के समान है, चमगीदड के पास ऐसी आँखें हैं जो सूर्य को जान लेती हैं किन्तु वे आंखें ऐसी दूषित हैं कि वह उसमें आनन्द नहीं ले सकता।

श्री पी० सिडनी (Sir P. Sidney)

उच्चतम सत्य को जानना और मानना मुख्यतया बुद्धि का कार्य होने की अपेक्षा हमारे हृदय का कार्य है।

जे ऐस कीफर (J. S. Kieffer)

हमारी सभ्यता में अत्यन्त अद्भुत विरोध यह है कि हम सत्य के प्रति सम्मान की घोषणा तो करते हैं किन्तु व्यवहार में उसकी पूर्णतया अवहेलना करते हैं।

स्टीफेनसन (Stefansen)

मैंने सदा ऐसा देखा है कि हमारे मन का सच्चा सत्य प्रत्येक ऐसे मन के लिए एक विशेष आकर्षण रखता है जो सच्चे भाव से सत्य से प्रेम करता है।

कारलायल (Carlyle)

धर्मानुयायी बनाने की भावना सत्य के प्रेम से पृथक् नहीं की जा सकती, सत्य-प्रेम ही एक ऐसा प्रयास है जिससे हम दूसरों को अपने विचारों के अनुकूल बना सकते हैं।

जी० फौस्टर (G. Foster)

सत्य जैसे विचार का विषय है ऐसे ही अनुभव का भी विषय है। साधारणतया सच्चा मनुष्य इसे प्राप्त कर लेगा। इसे जानने के लिए हृदय से इससे प्रेम करना चाहिए, विशेषकर इसे जीवन में लाना चाहिए। तब यह मनुष्य के आत्मा का प्राण, उसके जीवन का अंग बन जाता है।

आर० टर्नबुल (R. Turnbull)

सत्य उसे आचरण में लाने में है, कारण सत्य केवल कहने की वस्तु नहीं है अपितु जीवन की और अपने अस्तित्व की वस्तु हैं।

रोबर्टसन (Robertson)

सत्य-विचार को सत्य-कर्म से पृथक् करना विनाशकारी है। जो केवल सत्य पर विचार करता है किन्तु उसे आचरण में नहीं लाता वह आधा झूठा है।

एफ० डब्ल्यू० रोबर्टसन (F. W. Robertson)

सत्य के विरुद्ध किया हुआ प्रत्येक आचरण मानव समाज के स्वास्थ्य में छुरा भोंकता है।

इमर्सन (Emerson)

ऐसे बीसियों मनुष्य सरलता से मिल जायेंगे जो सत्य का ज्ञान रखते हैं, किन्तु ऐसा वीर दुर्लभता से मिलेगा जो सत्य का विरोध होने पर उसके पक्ष में दृढ़तापूर्वक डटा रहे।

ए० ए० होज (A. A. Hoage)

यह पर्याप्त नहीं है कि हम केवल सत्य को निगल जायं, हमें इसका इस प्रकार भक्षण करना चाहिये जिस प्रकार कीडा पत्ती को खाता है, और तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि सम्पूर्ण हृदय उसके गुणों से नहीं रंगा जाता और रग रग में अपने प्रभाव को प्रकट नहीं करता।

कौलरिज (Coleridge)

सत्य चाहे सत्य होने के कारण अनुत्साहित ही क्यों न करता हो (चाहे कष्ट ही क्यों न देता प्रतीत होता हो) वह अत्यधिक उत्साहवर्धक (आपातत सुखदायक) असत्यों से अधिक मूल्यवान् है।

मेटरलिंक (Materlink)

सत्य (प्राय) जारज सतान के समान अपने जन्मदाता की अपकीर्त्ति के बिना विश्व में नहीं आता।

मिल्टन थोमस हार्डी (Milton, Thomas Hardy)

जो मनुष्य अपने समय के विचारों का अपने विचार से विरोध करता है उसके मूल्य में अकाम्य सत्य होने चाहियें, और जो मनुष्य सत्य को अपने पक्ष में रखते हुए भी दूसरे मनुष्यों के मतों के कारण उसे अपनाने में डरता है वह मूर्ख और कायर है।

डीफो (Defoe)

धार्मिक सत्यों में सदा दो विशेषतायें होती हैं दिव्य सौन्दर्य जो उन्हें प्रिय बनाता है और पवित्र तेज जो उन्हें पूज्य बनाता है।

और असत्यों में दो विशेषतायें होती हैं : दुष्टता जो उन्हें बीभत्स बनाती है और धृष्टता जो उन्हें हास्यास्पद बनाती है।

पासकल (Pascal)

सत्य से यह आशा नहीं की जा सकती कि यह सांसारिक व्यवहारों में होने वाली कुटिल नीतियों और कपटतापूर्ण जाल-फरेबों से मेल मिलाप करेगा। कारण सत्य प्रकाश के समान केवल सीधी रेखा में गति करता है।

कौटन (Cotton)

सत्य की यह अनूठी विशेषता है कि यह सदा निष्पक्ष, निष्कपट मनुष्यों में वृद्धि करता है।

स्कूवेनर (Scuvener)

असत्य सदा कामावेगों और पक्षपात को प्रेरित करता है; सत्य ऐसे जघन्य छल-कपट से घृणा करता और केवल सद्‌बुद्धि एवं सदसद्-विवेक शक्ति को प्रेरित करता है।

ऐजल बेकस (Agel Backus)

असत्य उतावला होता है। यह कभी भी पहचाना और दण्डित किया जा सकता है। सत्य शांत, गम्भीर होता है; इसका निर्णय उच्च सिंहासन पर होता है। इसका राजा सनातन ब्रह्म के न्यायालयों से आता है।

जोसेफ पार्कर (Joseph Parker)

ईमानदारी और नैतिक सत्य ही विश्व में पूर्णतया स्वाभाविक सौन्दर्य है; कारण सम्पूर्ण सौन्दर्य सत्य ही है। सच्ची मुख-रेखायें

मुख के सौन्दर्य को वनाती हैं, सच्चे परिमाण भवन के सौन्दर्य को वनाते हैं, सच्चे ताल संगीत के सौन्दर्य को वनाते हैं। कविता मे भी जो केवल कल्पना सृष्टि है, सत्य ही पूर्णता है।

शेफ्टसबरी (Shaftesbury)

सत्य संसार में सबसे अधिक शक्तिशाली पदार्थ है, यहाँ तक कि कथा कहानी भी इससे ही अनुशासित होनी चाहियें और वे केवल तभी प्रसन्नतादायक हो सकती हैं जबकि सत्य पर प्रतिष्ठित हों।

शेफ्टसबरी (Shaftesbury)

जब तक तुम्हारा जीवन है सत्य बोलो और शैतान (असुर) को लज्जित करके भगा दो।

शेक्सपीयर

मेरा विश्वास है कि असत्य बोलने की अपेक्षा सत्य बोलना अच्छा है, दास होने की अपेक्षा स्वतंत्र होना अच्छा है और अज्ञान में रहने की अपेक्षा जानना अच्छा है।

एच॰ ऐल॰ मेंकीन (H. L Mancken)

विचार भाषण और लेखन की सत्यता एक रत्न है और जो मनुष्य मताग्रह को दूर हटा कर सम्मान पूर्वक सत्य को जानने और बोलने का प्रयास करते हैं केवल वही श्रेष्ठ जीवन के निर्माता हैं।

जोन गाल्सवर्दी (John Galsworthy)

सत्य को सुनने या बोलने के समान आनन्ददायक कोई पदार्थ नहीं है।

प्लेटो (Plato)

यदि कोई कथन सत्य है तो इस बात की परवाह नहीं करनी चाहिये कि उसे कौन कहता है।

एनोन (Anon)

जो मनुष्य विश्वासघात करने की भावना के बिना सुनता है और धोखा देने की भावना के बिना बोलता है उसकी बातें बहुत ही आनन्दमयी होती हैं।

शेरलॉक (Sherlock)

सत्य किसी विषय की विस्तृत बातें सूक्ष्म यथार्थता के साथ वर्णन करने में नहीं है अपितु जैसी मन की भावना हो उसे ठीक प्रकार देने में है।

आल्फर्ड (Alford)

जब मनुष्य बिना किसी बनावट के सरल स्पष्ट सत्य कहता है तो वह उस परिमित सीमा के भीतर बहुत बड़ी बातें कह सकता है।

स्टील (Steele)

संभ्रम और अनभिप्रेत अतथ्यता जो कि वार्तालाप में विशेषकर अशिक्षित व्यक्तियों की वार्तालाप में देखी जाती है, यह प्रमाणित करती है कि सहज शक्ति के समान सत्य को भी शिक्षित, परिमार्जित और परिवर्धित करने की आवश्यकता है।

श्रीमती फ्राई (Mrs Fry)

अपने बालकों को सत्य पर सावधानी के साथ ध्यान देने का अभ्यासी बनाओ, यहां तक कि छोटी से छोटी बातों में भी। यदि कोई घटना किसी एक खिड़की पर हुई है और उसका वर्णन करते हुए वे दूसरी खिड़की पर हुआ बतलाते हैं तो उसकी उपेक्षा मत करो, तुरन्त उन्हें टोक कर सुधार दो, तुम नहीं जानते कि सत्य से विचलितता का अन्त कहां होगा।

जॉनसन (Johnson)

तुम्हें सभी सत्य कह देने की आवश्यक्ता नहीं है जब तक कि ऐसे व्यक्ति न हों जिन्हें जानने का अधिकार है। परन्तु जो भी तुम कहो वह सत्य अवश्य होना चाहिये।

होरेस मैन (Horace Mann)

सत्य केवल असत्य भाषण से ही भग्न नहीं होता; यह समान रूप से मौन होने पर भी भग्न किया जा सकता है।

एमीन (Amien)

कभी कभी सीधे असत्य भाषण की अपेक्षा सत्य का न कहना अधिक धोखा देता है।

लार्ड नेपीयर (Lord Napier)

सत्य सदा अपने साथ संगत होता है और अपनी सहायता के लिए किसी की अपेक्षा नहीं करता, यह सदा समीप रहता और हमारे होठों पर बैठा रहता है, और हमें उसका ज्ञान होने से पहले ही बाहर जाने को तैयार रहता है। दूसरी ओर झूठ कष्टप्रद होता है; यह मनुष्य की आविष्कारिणी शक्ति को उत्तेजित

करता है, और एक चालाकी अपने आपको भली बनाने के लिये अपने समान अनेकों की आवश्यकता रखती है।

तिलोत्सन (Tillotson)

सत्य और प्रेम विश्व में दो अत्यन्त शक्तिशाली पदार्थ हैं; और जब ये साथ-साथ होते हैं तो इनका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता, इनके वेग को रोका नहीं जा सकता।

कडवर्थ (Cudworth)

सत्य दान के बिना अनेक बार असहिष्णु और यहां तक कि अत्याचारी होता है, इसही प्रकार दान सत्य के बिना दुर्बल और निर्णय में अविश्वसनीय होता है। परन्तु दान सत्य का भक्त होकर और उसमें हर्ष लेकर सर्प की प्रज्ञा और कबूतर की साधुता रखता है।

जे० स्वर्ट्ज (J. Swartj)

यह एक आश्चर्य की बात है कि जितना ही अधिक हम सच्चे होते जाते हैं उतने ही निर्भ्रान्त रूप में हम सत्य के चक्करों को जानने लगते हैं; हम यह निर्णय करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं कि हमारे सम्पर्क में आने वाला मनुष्य सच्चा है या नहीं और हम उसके शब्दों में, दृष्टि में और बनावटी कर्म में झूठ को पहचानने में समर्थ होते हैं।

एफ० डब्ल्यू० रोबर्टसन (F. W. Robertson)

यदि सत्य और सद्गुण दृढ़ दुर्ग बना लेते हैं तो दूषित विचार, विषय-लोलुपता और दुष्ट-भावनायें पुष्प-रज के समान एक

मनुष्य से दूसरे मनुष्य पर नहीं जा सकने, कारण उन्हें वहा असन्दिग्ध स्थान नहीं मिलेगा।

मेरी बेकर ऐड्डी (Mary Baker Eddy)

सत्य का मार्ग एक चौडे राजपथ के समान है। उसे जानना कठिन नहीं है। दोष यही है कि मनुष्य उसकी खोज नहीं करते, उस पर चलने की चेष्टा नहीं करते।

मीनीयस (Meneius)

सत्य का अनुसरण करो चाहे वह तुम्हें कठिनाई के पर्वत पर ही क्यो न ले जाता प्रतीत होता हो।

एनोन (Anon)

दृष्टि में सदा एक बात रखो—सत्य, और यदि तुम ऐसा करोगे तो, चाहे वह तुम्हें दूसरों के मतों से दूर ले जाता प्रतीत होता हो, निश्चय ही वह तुम्हें ईश्वर के सिंहासन के समीप ले जायगा।

हारेस मैन (Horace Mann)

डीमोक्रीटस का कथन है कि "सत्य कुएँ की तली के समान है जिसका जल एक दर्पण के समान है जिसमें पदार्थों का प्रतिबिम्ब पडता है"। मैंने सुना है कि कुछ दार्शनिकों ने सत्य की खोज करते हुए, उसका सम्मान करते हुए, अपने आत्मा का दर्शन किया है।

रिक्टर (Richter)

ससार के सतापों मे कष्ट भोगते हुए मनुष्य के लिए सत्य ही एक नौका है जिसमें बैठकर उसका आत्मा मृत्यु के सागर को पार कर सकता है। कारण मृत्यु सौन्दर्य, साहस, यौवन इन सभी का

अपहरण कर लेती है केवल सत्य या नहीं कर सकती ।

जोन मैसीफील्ड (John Mesefield)

सत्य पृथ्वी पर दलित हुआ फिर उठेगा, भगवान् के अमर वर्ष उसका जीवन हैं; पर भ्रम घायल हुआ दर्द से कर्हाता है, और अपने उपासकों में ही मर जाता है ।

ब्रायन्ट (Bryant)

सत्य महान् है और वह अवश्य ही विजयी होगा ।

(लैटिन कहावत)

सत्य का निषेध ही नास्तिकता है ।

आर्थर लिंच (Arthur Lynch)

धार्मिक सत्य, चाहे उसके किसी भी अंश का स्पर्श करो, उसका संबंध ईश्वर के अस्तित्व और शासन से होता है, और निश्चय ही उसकी पहुंच अनन्त है ।

आर. डी. हिचकोक (R. D. Hitchcock)

सत्य को जानो और वह तुम्हें मुक्त कर देगा । ईसा

× × ×

निष्कपटता (honesty), ईमानदारी का एक कण बनावटी अलंकारों, रियासतों या पद-वृद्धि से जिनके कारण कि मनुष्य बहुधा गुंडे बन जाते हैं, अधिक मूल्य रखता है ।

शैफ्टसबरी (Shaftesbury)

ईश्वर केवल शुद्धि, सचाई को देखता है धन को नहीं ।

लेबरियस (Labarius)

मैं आशा करता हूं कि मुझमें इतने पर्याप्त सद्गुण और दृढ़ता रहेंगे कि जिससे मैं निष्कपट मनुष्य के चरित्र की उपाधि को— जिसे कि मैं समस्त उपाधियों में ईर्ष्या की दृष्टि से देखता हूँ– बनाये रख सकूंगा ।

वाशिंगटन (Washington)

यदि मनुष्य इस महान् सत्य को मान लें कि केवल निष्कपट मनुष्य ही ज्ञानी या सुरक्षित होता है, तो यह व्यक्ति और समष्टि सभी के लिए अकथनीय लाभप्रद होगा ।

श्री डब्ल्यू० रॅले (Sir W. Raleigh)

अनुचित लाभ की अपेक्षा हानि को स्वीकार करो, कारण इससे एक ही बार दुःख होता है किन्तु वह सदा के लिए दुःख देता रहता है ।

चिलो (Chilo)

अनुचित लाभ की आशा करना हानि का प्रारम्भ है ।

डीमोक्रीटस (Democritus)

तुम्हारी धमकियों से मुझे भय नहीं लगता, कारण मैं निष्कपटता रूप शस्त्र से इतना अधिक सज्जित हूँ कि वे (धमकियां) अकिंचित्कर वायु के समान मेरे पास से होकर चली जाती हैं और मैं उनकी ओर ध्यान भी नहीं देता ।

शेक्सपीयर

निष्कपटता केवल गंभीरतम नीति ही नहीं है अपितु उच्चतम ज्ञान है, कारण निष्कपट मनुष्य के लिए प्रगति करना चाहे कितना भी कठिन क्यों न हो उसकी अपेक्षा, कपटी के लिए जाल में से

निकलना हजारों गुना अधिक कठिन है। जो मनुष्य यह सोचते हैं कि सद्गुण का कोई पुरस्कार नहीं मिलता वे विनाशकारी भूल करते हैं।

कॉल्टन (Colton)

निष्कपटता ईश्वर और मनुष्य दोनों के अधिकारों को स्वीकार करती है। वह ईश्वर की वस्तुओं को ईश्वर को देती है और मनुष्य की वस्तुओं को मनुष्य को।

सी॰ साईमन्स (C. Simmons)

बहुत से मनुष्य बिल्कुल निष्कपट (ईमानदार) हो सकते हैं, चाहे उन्होंने सदाचार संबंधी पुस्तकों का अध्ययन न भी किया हो।

कन्फ्यूशियस

× × ×

सचाई (Sincerity) का अर्थ है जैसा हम विचार करते हैं वैसा कहना, जैसा कहते हैं वैसा करना, जो हम प्रतिज्ञा करते हैं उसे पूरा करना, जैसा हम अपने आपको दिखाना चाहते हैं वैसा होना।

तिलोत्सन (Tillotson)

सचाई समस्त सदसद्विवेक का अनिवार्य आधार है और अपने परिणाम के द्वारा समस्त हृदयानुभूत धर्म का अनिवार्य आधार है।

काट (Kant)

सचाई समस्त सद्गुणों मे सर्वोत्तम गुण है; चाहे पृथ्वी फट जाय, चाहे नारकीय विनाश सम्मुख हो तब भी मनुष्य को अपने

मानने से सचाई के पथ को छोड़ कर कपट के टेढ़े मार्ग को नहीं ग्रहण करना चाहिये। होम (Home)

जगत् में सम्मान के साथ जीवन व्यतीत करने का सीधा और सुनिश्चित मार्ग है— जैसा मनुष्य अपने आपको दिखाना चाहता है वैसा वास्तव में हो। समस्त मानव-सद्गुण अभ्यास और अनुभव में लाने से बढ़ते और बलिष्ठ होते हैं।

सुकरात

सरलता और सचाई के साथ मनुष्य को आत्म संशोधन का प्रयत्न करना चाहिये।

सच्चा मनुष्य कभी उद्विग्न नहीं होता।

सच्चे मनुष्य सदा कर्मठ होते हैं, वे व्यर्थ बकवाद कभी नहीं करते। वे सम्मानित होते हुए भी अभिमान से सदा दूर रहते हैं। वचन दे देने के बाद मनुष्य को कभी भी काम करने में पीछे नहीं हटना चाहिए। कन्फ्यूशियस

सचाई का मार्ग सीधा, सम, राजपथ के समान है जिस पर चलने से मनुष्य अपनी यात्रा के लक्ष्य पर पहुच जाता है, इसके विपरीत कपट का मार्ग विलम्ब का है और अनेक बार मनुष्य इसमें अपने आपको खो बैठता है। तिलोत्सन (Tillotson)

रास्ती सीधी सड़क है इसमें कुछ खटका नहीं।
कोई रहरू आज तक इस राह में भटका नहीं॥

रास्ती मूजिब रजाये खुदा अस्त।
कस्ने दीदम केह गुम शुद अज़ रहे रास्त॥

सच्चाई ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग है। सच्चाई के मार्ग में चलने वाला कभी खोया नहीं जाता।

शेख सादी

ईश्वर सत्य है (सत्यता ईश्वर है) और प्रकाश उसका प्रतिबिम्ब है।

प्लेटो

सच्चाई का अर्थ है सत्ता की सम्पूर्ण क्रियाओं को उस उच्चतम चेतना और अनुभूति के स्तर तक— जो अभी तक प्राप्त किया जा सका है— उठा देना।

श्री अरविन्द

सच्चाई समस्त सच्ची प्राप्तियों का आधार है। यह साधन है, मार्ग है और लक्ष्य भी। सच्चे होने पर तुम दिव्य जीवन में संवर्धित होगे।

श्री अरविन्द

पूर्णतया सच्चा होने का अर्थ है केवल दिव्य सत्य की अभीप्सा करना, अपने आपको अधिकाधिक भगवती माता के समर्पण करना, केवल इस अभीप्सा के अतिरिक्त अपनी व्यक्तिगत समस्त मांगों और कामनाओं का परित्याग कर देना, अपने जीवन के प्रत्येक कर्म को भगवान् के अर्पण करना और अपने अहं को उसके भीतर घुसेड़े बिना उसे इस भाव से करना कि भगवान् ने ही तुम्हें यह कार्य दिया है। यह दिव्य जीवन का आधार है।

श्री अरविन्द

समाप्त

सहायक ग्रन्थ

ऋग्वेद, अथर्व वेद, छान्दोग्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, अध्यात्म रामायण, वाल्मीकीय रामायण, तुलसीकृत रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, देवी भागवत, विष्णु पुराण, मार्कण्डेय पुराण, मनुस्मृति, पातञ्जल योग, शंकरदिग्विजय, शंकर विजयसार, शंकराचार्य, नीतिशतक, सुभाषित रत्न भाण्डागारम्, धम्मपद, बुद्धवाणी, संतवाणी, महावीरवाणी, योग के आधार, योग प्रदीप, माता, श्री अरविन्द अपने तथा माता जी के विषय में, श्री अरविन्द के पत्र, काराकाहिनी, शारीरिक शिक्षण पत्रिका, मातृवाणी, सुन्दर कहानिया, रामकृष्णलीलामृत, आत्मकथा, कल्याण, Trial and Death of Socrates, Dictionary of Thought, As You Like It, Life Divine इत्यादि ।

लेखक की अन्य कृतियां

(१) गीता नवनीत	प्रथम भाग	सजिल्द	पूर्ण वस्त्र ४)
"	"	"	साधारण ३॥)
(२) "	द्वितीय भाग	"	पूर्ण वस्त्र ४)
"	"	"	साधारण ३॥)

(३) कठोपनिषद्—
श्री अरविन्दकृत अंग्रेजी भाषान्तर का हिन्दी अनुवाद १)

(४) आत्मसमर्पण योग ।॥)

सम्मतियां

गीता नवनीत

डा० भीखन लाल आत्रेय
अध्यक्ष दर्शन, मनोविज्ञान, धर्म तथा भारतीय दर्शन विभाग
काशी विश्वविद्यालय

गीता नवनीत के लेखक श्री स्वा० केशवदेव जी आचार्य भारत के उन गिने चुने थोडे से व्यक्तियो में से हैं जिनको श्री अरविन्द के विचारो को हिन्दी भाषा द्वारा देश में प्रचार करने का अधिकारी कहा जा सकता है। आपने हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में रहकर भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनो का गहरा अध्ययन किया है। आपने लगभग बारह तेरह वर्षों की कठोर साधना और तपस्या से गीता और गीता प्रबन्ध (Essays on the Gita) का मथन करके उनमें से "गीता नवनीत" निकाला है। यह पुस्तक गीता के विषय में एक महत्वपूर्ण रचना होगी। मेरा विश्वास है कि इसके द्वारा गीता और श्री अरविन्द के गंभीर भावों में हिन्दी जानने वाले सरलता से प्रवेश पा सकेंगे।

डा० इन्द्रसेन

प्रो० दर्शन, मनोविज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र पांडीचेरी

आचार्य श्री केशवदेव जी ने श्री अरविन्द की गीता-विषयिणी दृष्टि और प्रेरणा को स्वतन्त्र रूप से "गीता नवनीत" में प्रकट किया है। गीता अवश्य ही जीवन-प्रेरक शास्त्र है। और जब इसे अपने यथार्थ आध्यात्मिक स्वरूप में समझा तथा ग्रहण किया जाता है तब यह अपने पूर्णरूप में जीवन प्रेरक सिद्ध होता है। ···आचार्य श्री केशवदेव जी का 'गीता नवनीत' इस अध्यात्म-विकास में अवश्य उपयोगी सिद्ध होगा।

आचार्य अभयदेव

भू० पू० आचार्य गुरुकुल कांगड़ी

गीता की जो जो व्याख्यायें मैंने अपने जीवन में पढ़ी हैं उनमें सबसे अधिक गीता के सत्य को प्रकट करने वाली वह लगी है जो गीता प्रबंध (Essays on the Gita) के नाम से प्रकट हुई है। श्री अरविन्द लिखित इस पुस्तक ने एक बार तो मुझ पर जादू जैसा चामत्कारिक प्रभाव किया था। श्री अरविन्द के गीता पर लिखे इन निबन्धों के ही आधार पर श्री केशवदेव जी आचार्य ने 'गीता नवनीत' नाम से हिन्दी में दो भागों में अपनी जो पुस्तक लिखी है वह अवश्य ही गीता का अनुशीलन करना चाहने वालों के लिए लाभप्रद होगी—ऐसी मुझे आशा है। लेखक महोदय अपने इस परिश्रम के लिए श्लाघा के पात्र हैं।

बाबा राघवदास

भारत में हमें साधना की बड़ी आवश्यकता है, केवल पाण्डित्य से समाधान नहीं होता। महात्मा योगी श्री अरविन्द ने इस दिशा में हमारा योग्य मार्गदर्शन किया है। मुझे यह रचना (गीता नवनीत) बहुत अच्छी लगी। इसमें चिन्तन है और साधना भी। पुरुषार्थ तथा भक्ति में विरोध नहीं इसकी शोभा है।

श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार (सम्पादक 'कल्याण')

गीता नवनीत और आत्मसमर्पण योग दोनों पुस्तकें बहुत अच्छी हैं। उनके प्रचार से लोगों को सत्य की खोज में बहुत अच्छा प्रकाश मिलेगा। आपको इस सत्क्रिया के लिए धन्यवाद।

नवभारत टाईम्स (देहली)

आचार्य श्री केशवदेव जी ने श्री अरविन्द की दृष्टि से गीता-ज्ञान को जन-साधारण तक पहुँचाने का जो कार्य गीता नवनीत के द्वारा किया है [illegible]सनीय है। गीता के मूल विषय को इतनी हृदयग्राही शैली से समझाया गया है कि इसमें तनिक भी बोझ नहीं मालूम होता।

द्वितीय भाग में आचार्य जी ने १४ परिच्छेदों में अवतार, उपासना, तीन पुरुष, विश्वसृष्टि आदि विषयों पर गीता के मन्तव्य को श्री अरविन्द के दृष्टिकोण से समझाने की सफल चेष्टा की है। अध्यात्म प्रेमी हिन्दी-भाषी जगत् विद्वान् लेखक का इसलिए और भी कृतज्ञ रहेगा कि आपने विषय का प्रतिपादन करते समय विभिन्न उपनिषदों के उद्धरण, शंकर रामानुज आदि के मतों को देकर जो तुलनात्मक व्याख्या की है उससे विषय सरल हो जाता है।

मानवधर्म (देहली)

गीता नवनीत में गीता के रहस्यों का सुन्दर विवेचन किया गया है। पुस्तक मननीय है।

प्रभात

श्री अरविन्द के गीता प्रबन्ध, दिव्य जीवन, योग-समन्वय आदि ग्रन्थों के गहरे अध्ययन से लिखा गया है और लेखक की तीक्ष्ण बुद्धि और उच्चकोटि के अनुभव का परिचय देता है। राष्ट्र भाषा में एक नया रत्न है।

अग्रवाल

गीता नवनीत के लेखक ने कर्मयोग की भूमिकाओं को जिस सुन्दरता

के साथ क्रमबद्ध रूप में स्पष्ट किया है इससे न केवल लेखक की सूक्ष्म बुद्धि का अपितु गीता के योग की गहरी साधना का भी पता चलता है।

अणुव्रत (कलकत्ता)

गीता नवनीत के लेखक ने भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य और दर्शनों का तो गहरा अध्ययन किया ही है, साथ ही योग साधना और अध्यात्म जगत् के व्यावहारिक ज्ञान ने उसकी विचाराभिव्यक्ति को और भी सबल बना दिया है। यही कारण है कि जो इसके पढ़ने से पाठक को स्थान-स्थान पर अपने दैनिक जीवन में आये संघर्षों व कठिनाइयों से जूझने की एक नवीन प्रेरणा व उत्साह मिलते अनुभव होते हैं।

भारत (इलाहाबाद)

गीता-स्वाध्याय में वर्षों लगाकर श्री अरविन्द के गीता-प्रबंध, दिव्य जीवन, योग-समन्वय आदि ग्रन्थों के गंभीर अध्ययन के बाद यह पुस्तक दो भागों में लिखी गई है। इस पुस्तक को लिखकर लेखक ने श्री अरविन्द के गंभीर एवं जटिल विचारों को समझना आसान कर दिया है। विविध ग्रन्थों के महत्वपूर्ण उद्धरणों से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है।

भारतवर्ष

यद्यपि यह ग्रन्थ श्री अरविन्द के गीता-निबंधों के प्रकाश में लिखा गया है, तथापि लेखक की युक्तियां अपनी विचित्र मौलिकता रखती हैं जो बुद्धि को पकड़ लेती हैं और एक निष्कर्ष पर पहुँचाती जान पड़ती है।

हिन्दुस्तान (देहली)

श्री अरविन्द तथा माता जी के ६ भव्य चित्रों के साथ गीता नवनीत के रूप में गीता के शाश्वत, विराट् तथा गहन सिद्धान्तों का विश्लेषण करने का प्रयत्न निःसन्देह स्तुत्य है।

आज (काशी)

श्री अरविन्द-दर्शन हमारे युग की वैज्ञानिक प्रतिभा के अनुरूप है और उसने भारत के परम्परागत आध्यात्मिक सन्देश को नई शक्ति दी है। गीता नवनीत में श्री अरविन्द के इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि पाठकों को इस ग्रन्थ से गीता का तत्वार्थ समझने में नया प्रकाश मिलेगा।

आजकल (देहली)

श्री अरविन्द के गीता पर लिखे निबंधों को मथकर आचार्य श्री केशवदेव जी ने यह गीता नवनीत निकाला है। हमें यह कहते हुए संकोच नहीं होता कि उसे पढ़ते पढ़ते श्री अरविन्द का दृष्टिकोण दिमाग में बैठता जाता है, हृदय को खींचता है, उसमें नवीनता तथा मधुरता है।

Pioneer (Lucknow)

In this book the author has shown a masterly grasp of the philosophy of the Upanishads, crystallised and synthetised in the Flute-player's Song Divine. Sri Aurobindo's spirit is imperceptibly betrayed in the comprehensive thoroughness, exhaustiveness, depth of study, erudition, happy precision and choice of words, all richly employed and expressed in the logical interpretation and meaning of such a difficult theme as the Gita.

We recommend this book to all those who are looking for a dynamic light in the anarchic gloom of modern life.

Hitvada (Nagpur)

The book under review is based on a

Aurobindo's valuable Essays on the Gita and the author, a former inmate of Sri Aurobindo Ashram, gives a close insight to the Hindi-knowing world into Sri Aurobindo's approach to Gita.

Mother India (Pondicherry)

Acharya Keshava Deva has rendered a great service to the Indian people by giving the gist of this wonderful interpretation (Essays on the Gita) through Hindi, the Rashtra-bhasha. One has to read only the chapter on Karmayoga in his book to see how clearly he has brought out the implications of a really spiritual life following the illumination given by Sri Aurobindo.

The author following the light of Sri Aurobindo, has dealt with almost all the aspects of this difficult subject (Avatarhood). The reconciliation effected by the Gita between Jnana, Bhakti and Karma, has been ably expounded and is sure to be of particular interest to the modern mind.

Leader (Allahabad)

Sri Swami Keshava Deva Acharya has done a really praiseworthy intellectual feat by writing two volumes of the Gita-navanita in Hindi, in the light and spirit of Sri Aurobindo's Essays on the Gita. He has certainly fulfilled a long-felt need of Hindi-knowing public to drink deep at the pure and prestine spring of the Gita.

Gita-navanit depicts almost all the Gita's essential phases, conscious and unconscious,

bringing out its hidden and dormant meaning which falls now within the grasp of all and sundry, due to its profundity of spiritual ideas combined with simplicity, lucidity and clarity of expression.

Indian Nation (Patna)

Acharya Keshava Deva's Essays on the Gita are comprehensive, exhaustive and profound. They are the product of not only his personal studies of the Gita and various commentaries on it but his own meditative reflections and intuitive perceptions. Sri Aurobindo has, no doubt, been an excellent guide for him. But the style, the presentation, the copious illustrations with the help of which abstruse philosophical questions are solved, are all his own. These essays give us nearly all the exhaustive and learned matter of Sri Aurobindo's book (Essays on the Gita) in a quite simple, lucid and easily graspable Hindi language.

आत्मसमर्पण योग

प्रभात

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में जिस योग को अपना उत्तम रहस्य, गुह्यतम रहस्य कहा है वह आत्मसमर्पण योग ही है। विद्वान अनुभवी लेखक ने— किसका समर्पण किया जाय, किसे किया जाय, कैसे इसे प्रारम्भ किया जाय और फिर कैसे क्रमशः आगे बढ़ाया जाय— इन सब रहस्यों का प्रकाश जिस क्रमिक भूमिका में और सरल एवं स्पष्ट भाषा में किया है उससे यह गुह्यतम विषय बहुत ही सरल हो जाता है। अनेक उच्चकोटि के आध्यात्मिक ग्रन्थों और महात्माओं के विषयोपयोगी उत्तम उत्तम वचनों के उद्धरण से विषय प्रतिपादन में अपूर्व रोचकता आगई

है। गीता के शरणागति योग को अपने जीवन में लाने की इच्छा रखने वालों के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

भारत (प्रयाग)

प्रस्तुत पुस्तक में इसी योग को अच्छी तरह समझाया गया है। योगी अरविन्द ने जो नयी आध्यात्मिक मान्यताओं की स्थापना की है उनको समझने में इस पुस्तक से सहायता मिलेगी इसमें सन्देह नहीं।

Leader (Allahabad)

In this booklet, Acharya Keshava Deva has presented to the Hindi-reading public an outline of the theory and practice of self-surrender as propounded by Sri Aurobindo. The first movement in the process of self-surrender is a resolute will to offer oneself to the Divine. The second movement is of self-dedication, and the third of self-consecration. The consummation of the surrender is reached when the second stage shades off into a stage of integral union and communion with the Divine in the midst of all activities of life. It is then, the Light and Love, the Force and the Bliss of the Divine that flow freely and spontaneously from the life and action, thought and feeling of the Sadhaka who has thus become a living vessel of the Eternal. It contains two very nice photos of Sri Aurobindo and the Mother.